

# सुखी होने का उपाय

भाग 2

आत्मा की अन्तर दशा  
तत्त्व निर्णय एवं भेद विज्ञान

नेमीचन्द पाटणी

प्रथम संस्करण : ५२००  
( २६जनवरी १९६२ )

मूल्य : चार रुपया

मुद्रक :  
प्रीमियर प्रिंटिंग प्रे  
जालूपुरा, जयपुर

---

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले  
दातारों की सूची

१.	श्री मगनमल पाटनी चैरिटेबल ट्रस्ट, आगरा	१०००/-
२.	स्व. कलावती बाई ध. प. मगनमल पाटनी धर्मादा फण्ड, आगरा	१०००/-
३.	स्नेहलता, हकीम मेहरचन्दजी, दिल्ली	५२५/-
४.	श्री भागचंदजी कलकत्ता	५०१/-
५.	श्री कान्तिबाल असीच	२००/-
६.	गुप्तदान	२०१/-
७.	श्री जयन्तीभाई धनजीभाई दोशी दादर, बम्बई	१११/-
८.	श्री चौ. फूलचन्दजी जैन, बम्बई	१०१/-
९.	श्री अर्जुनलाल चम्पालाल लकडवास	१०१/-
१०.	श्री गोरीचन्द भीमराज जी जोधपुर	१०१/-

---

# सुखी होने का उपाय

भाग-2

(आत्मा की अन्तर्दशा, एवं स्व तत्त्व निर्णय)



लेखक  
नेमीचन्द पाटनी

~~प्रकाशक :~~

पण्डित टोडरमल ~~स्वामीचन्द्र~~  
ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२०१५

# सुखी होने का उपाय

## भाग - २

(आत्मा की अन्तर्दशा, तत्त्व निर्णय एवं भेद विज्ञान)

## विषय सूची

विषय	पृष्ठ संख्या
अपनी बात	1 से 6
सास्संक्षेप	7 से 12
मोक्षमार्ग की प्रगटता में पाँच लब्धियाँ	
दुःख, सुख तथा धर्म की परिभाषा	1
धर्म का सरल मार्ग प्राप्त करने की जिज्ञासा	3
धर्म प्रगट करने का पात्र जीव	
एवं पाँच लब्धियाँ	4
क्षयोपशमलब्धि	5
विशुद्ध लब्धि	6
प्रायोग्यलब्धि	8
करण लब्धि	9
पाँच लब्धियों का संक्षेप	11
तत्त्वनिर्णय	
देशना (उपदेश) कहाँ से प्राप्त हो ?	12
ज्ञानी पुरुष के अभाव में	
यथार्थ निर्णय कैसे हो ?	15
यथार्थ देशना प्राप्त करके भी	
निर्णय यथार्थ कैसे किया जावे ?	18
निर्णय करना आवश्यक क्यों ?	20
तत्त्व निर्णय करने की विधि	22
अध्ययन पाँच प्रकार से	

निर्णय करने वाले की अन्तर्भूमिका	26
निर्णय का विषय क्या हो?	28
<b>चारों अनुयोग</b>	
अनुयोगों का प्रयोजन	34
पद्धति	36
निष्कर्ष	41
<b>ज्ञेय तथा हेय उपादेय तत्त्वों के संबंध में</b>	
ज्ञेय तत्त्व	42
ज्ञेय तत्त्वों का स्व-पर विभागीकरण	44
स्वज्ञेय की यथार्थ खोज में	
परज्ञेय उपेक्षित हो ही जाते हैं	47
स्वज्ञेय को खोजने की पद्धति	49
परसन्मुखता कैसे दूर हो ?	54
जानना और मानना एक	
साथ कैसे हो सकता है ?	56
स्वसन्मुखता प्रगट करने का उपाय	57
मात्र स्वज्ञेय तत्त्व ही अनुसंधान करने योग्य है	58
स्वज्ञेय तत्त्व के अनुसंधान की पद्धति	59
<b>स्वज्ञेयतत्त्व का अनुसंधान</b>	
स्वज्ञेय में भी अनेकता दिखती है,	
मैं अपनापना किसमें मानूं	63
भेदज्ञान की महिमा	64
अनेकताओं के विभागीकरणपूर्वक स्वतत्त्व की खोज	65
पर्याय के ज्ञानपूर्वक त्रिकाली	
ज्ञायकभाव की खोज	65
<b>तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्</b>	
तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं	68
सात तत्त्वों के श्रद्धान द्वारा भेद ज्ञान	70

द्रव्य पर्याय के भेद में सात तत्त्व	71
हेय, ज्ञेय, उपादेय के भेद से सात तत्त्व	74
स्वज्ञेय, परज्ञेय के भेद से सात तत्त्व	75
सम्यक् श्रद्धा के साध सम्यक	
चारित्र का अविनाभावी संबंध	78
पर्याय उपेक्षणीय कहने से	
स्वच्छन्दता की संभावना का निराकरण	80
द्रव्य कर्म, भाव कर्म की मुख्यता	
से सात तत्त्वों का ज्ञान	84
श्रद्धा प्रधानता एवं ज्ञान प्रधानता	
से सात तत्त्वों की समझ	86
<b>निश्चय के साथ व्यवहार होता ही है</b>	
सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्ग	89
निश्चय सम्यग्दर्शन के साथ देवशास्त्र गुरु,	
की श्रद्धा आदि की अनिवार्यता कैसे ?	90
निश्चय व्यवहार का स्वरूप	91
निश्चय के साथ व्यवहार-मोक्षमार्ग का निमित्त,	
सहचारी एवं उपचारपना कैसे ?	92
<b>प्रामाणनयैधिगम</b>	
प्रमाण, नय के लक्षण	97
आगमशैली एवं अध्यात्मशैली	98
नयज्ञान से लाभ	99
नयों का प्रयोजन	101
नयों के भेदप्रभेद	104
निश्चय नय एवं व्यवहार नय तथा निश्चय	
व्यवहारा मोक्षमार्ग में अन्तर	108
अनेकांत एवं स्याद्वाद	110
उपसंहार	113

## अपनी बात

प्रस्तुत पुस्तक "सुखी होने का उपाय" भाग-2 है। इसके पूर्व प्रथम भाग सन् 1990 में प्रकाशित हो चुका था। उस समय संपूर्ण विषय 3 भागों में संकलित कर प्रकाशन कराने का संकल्प था, लेकिन विषय की महत्ता एवं गभीरता को दृष्टिगत करते हुये अब 4 भागों में विभक्त कर प्रकाशन कराने का निर्णय लिया है। तीसरे भाग का विषय होगा "आत्मज्ञता प्राप्त करने का उपाय यथार्थ निर्णय ही है।" चतुर्थ भाग का विषय रहेगा "यथार्थ निर्णय के द्वारा ही सविकल्प एवं निर्विकल्प आत्मानुभूति।"

मैंने ये सभी रचनाएँ मात्र अपने उपयोग को सूक्ष्म एवं एकाग्र कर जिनवाणी में ही रमाये रखने की दृष्टि से की है। इसी कारण इनके सभी प्रकरणों की रचना अलग-अलग समय पर, जब-जब अपना उपयोग खाली हो सका टुकड़ों-टुकड़ों में की गई है। फलतः इसमें पुनरावृत्ति बहुत हुई है। भाषा साहित्य का ज्ञान नहीं होने से वाक्य विन्यास भी ठीक नहीं है तथा वाक्यों का जोड़-तोड़ भी सही नहीं है। अतः पाठकगण को इस दृष्टि से इसमें बहुत कमी लगेगी तथा पढ़ने में भी संभव है रुचिकर नहीं हो? लेकिन अध्यात्म के कथन तो भावना दृढ़ करने के लिये होते हैं, अतः उसमें पुनरावृत्ति दोष नहीं गिना जाना चाहिये। इसके अतिरिक्त भी अन्य कमियों को गौण करते हुये पाठकगण इस पुस्तक द्वारा प्रस्तुत विषय पर लक्ष्य रखते हुये अध्ययन करेंगे तो मैं मेरा श्रम सार्थक समझूँगा।

उपरोक्त पुस्तक के प्रथम भाग में, छह द्रव्यों के अनंतानंत द्रव्यों की भीड़-भाड़ में खोई हुई हमारी स्वयं की निज आत्मा को, अनेक उपायों के द्वारा भिन्नता

पहिचानकर, अन्य पदार्थों के साथ अपनी कल्पना से माने हुवे सम्बन्धों को तोड़ कर, अपनी स्वतंत्र सत्ता स्वीकारते हुवे, अपने-आप में निम्न प्रकार की श्रद्धा जाग्रत करने का उपाय बताया गया था, कि—

"जगत् के सभी द्रव्य उत्पाद व्यय धौव्ययुक्तंसत् है" उन ही में, मैं भी स्वयं एक सत् हूँ।" मेरी सत्ता मेरे स्व चतुष्टय में है। अतः मेरी सत्ता में किसी का प्रवेश, हस्तक्षेप है ही नहीं एवं हो सकता भी नहीं है ऐसी स्थिति में मेरा भी जगत् के किसी भी द्रव्य के कार्यों में किसी प्रकार का भी हस्तक्षेप करने का अधिकार कैसे हो सकता है? इस प्रकार जगत् के सभी द्रव्यों के परिणमनों से मेरा कोई संबंध नहीं होने के कारण वे मेरे लिये मात्र पर, उपेक्षणीय एवं ज्ञेय मात्र हैं। अतः उनके परिणमनों के कारण मेरे कोई प्रकार की आकुलता उत्पन्न होने का कारण ही नहीं रहता। मेरी आत्मा का भला अथवा बुरा अर्थात् हानि अथवा लाभ पहुँचाने वाला एकमात्र मैं स्वयं ही हूँ उसी प्रकार मेरा सुधार भी मैं स्वयं ही कर सकता हूँ। अतः मेरे कल्याण के लिये मुझे मेरे में ही अनुसंधान करके यथार्थ मार्ग खोजना पड़ेगा एवं अपने में ही प्रगति करनी पड़ेगी।"

उपरोक्त श्रद्धा जाग्रत कर लेने पर आत्मार्थी अपने आत्म द्रव्य में ही यथार्थ मार्ग खोजना प्रारंभ करता है। अतः अन्तर्दशा, तत्त्व निर्णय एवं भेद विज्ञान।" के शीर्षक पूर्वक आत्मा के अनुसंधान करने का उपाय इस पुस्तक में बताया गया है।

उसके माध्यम से आत्मा, जब अपनी अन्तर्दशा का अनुसंधान करता है तो वहाँ उसको एक ओर तो त्रिकाली, स्थायी भाव, ऐसा घ्रुवांश दिखाई देता है और दूसरी ओर



क्षण-क्षण में बदलता हुआ परिवर्तनशील-अस्थायी भाव, पर्यायांश दिखाई देता है। आचार्यों ने भी द्रव्य की अर्थात् सत् की परिभाषा भी "उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्त सत्" ही बताई है। उक्त सत् रूप द्रव्य में हेय, उपादेय एवं श्रद्धेय की खोज करने के लिए सात तत्व के माध्यम से सत् की यथार्थ स्थिति इस पुस्तक में समझाई है।"

उन सात तत्वों में, जीव तत्व तो ध्रुवांश है, वह अहं के रूप में श्रद्धेय तत्व है। अजीव तत्व तो मात्र उपेक्षणीय परज्ञेय तत्व है। आश्रवबंध पर्यायांश है एवं हेय तत्व है। सवर निर्जरा, पर्यायांश है, एवं उपादेय तत्व है। मोक्ष तत्व तो परम उपादेय तत्व है। इनहीं में आश्रवबंध तत्व के विशेष भेद पुण्य व पाप मिलाकर नवतत्व भी कह दिये जाते हैं, वे भी आश्रवबंध के ही भेद होने से हेय तत्व ही है।"

"इसप्रकार अपनी आत्मा की अन्तर्दशा को समझकर ध्रुवांशरूप स्व आत्म तत्व में अहंपना स्थापन करने की मुख्यता से उपरोक्त समस्त स्थिति को भेद ज्ञान एवं भली प्रकार अनुसंधानपूर्वक समझकर स्वको स्व के रूप में, पर को पर के रूप में मानते हुये, हेय को त्यागने योग्य, उपादेय को ग्रहण करने योग्य स्वीकार करते हुये, यथार्थ मार्ग शोध निकालने का उपाय" इस पुस्तक के इसी भाग में बताया गया है।

उपरोक्त विषयों की विस्तृत जानकारी विषय सूची से जानकर पूर्ण मनोयोग पूर्वक अभ्यास करें।

आगामी भाग 3 में प्रवचनसार गाथा 87 के माध्यम से मेरा आत्मा भी वर्तमान में अरहंत के समान ही है, ऐसा यथार्थ निर्णय करने की विधि की विस्तृत विवेचना है।

उपरोक्त यथार्थ निर्णय प्राप्त करने के लिये नयज्ञान एवं उसकी उपयोगिता समझ कर उसके यथार्थ प्रयोग द्वारा मेरा आत्मा वर्तमान में रागी द्वेषी दिखाई देने पर भी, वह आत्मा द्रव्यदृष्टि के साथ-साथ पर्याय से भी अरहत के समान है ऐसा कैसे निर्णय में आता है, वह विधि भाग 3 में आवेगी। ज्ञानस्वभावी आत्मा का, स्वभाव ही मेरे स्वज्ञेय को तन्मयतापूर्वक एवं परज्ञेयों को अतन्मयतापूर्वक जानने का है। अतः परज्ञेय मात्र ही उपेक्षणीय ज्ञेयमात्र है। अपनी पर्याय भी परज्ञेय ही है, स्वज्ञेय तो मात्र अपना ध्रुव तत्व ही है आदि-आदि विषयों को भी समझाया जावेगा। इस निर्णय में उपयोगी निश्चय, व्यवहारनय का यथार्थ ज्ञान एवं नय एवं दृष्टि का अंतर समझकर कर्तृत्व बुद्धि का अभिप्राय नाश करने का उपाय तथा आकुलता की उत्पत्ति के कारण व उसके उत्पादक कारणों का अभाव करने का उपाय आदि अनेक विषयों के समावेश करने का सकल्प है।

भाग 3 के पश्चात भाग 4 को भी 2 भाग में विभक्त करने का विचार है। पूर्वार्द्ध का विषय होगा "यथार्थ निर्णय द्वारा सविकल्प आत्मज्ञान" और उत्तरार्द्ध का विषय होगा "सविकल्प आत्मज्ञानपूर्वक निर्विकल्प आत्मानुभूति" —।

उपरोक्त भाग का विषय उनके नाम के द्वारा ही आपको ज्ञात हो जाना चाहिये। प्रायोग्यलब्धि प्राप्त जीव को किस प्रकार सविकल्प आत्मज्ञान प्राप्त हो जाता है। यह पूर्वार्द्ध का विषय होगा एवं करणलब्धि प्राप्त जीव सविकल्प आत्मज्ञान द्वारा किस प्रकार निर्विकल्प आत्मानुभूति को प्राप्त कर लेता है यह विधि उत्तरार्द्ध में स्पष्ट करने का सकल्प है।

इस प्रकार उपरोक्त चारों भागों में अज्ञानी अप्रतिबुद्धको निर्विकल्प आत्मानुभूति द्वारा सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का उपाय विस्तारपूर्वक बताया गया है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस पुस्तिका में प्रकाशित मार्ग ही संसार में भटकते प्राणी को संसार भ्रमण से छुटकारा प्राप्त कराने का यथार्थ मार्ग है। मैं स्वयं अनादि काल से भटकता हुआ दिग्भ्रमित प्राणी था, यथार्थ मार्ग प्राप्त करने के लिये दर-दर की ठोकरें खाता फिरता था, सबही अपने चिंतन को ही सच्चा मार्ग कहते थे लेकिन किसी के पास रचमात्र भी शांति प्राप्त कराने का मार्ग नहीं था। ऐसी कठिन परिस्थितियों में मेरे सद्भाग्य का उदय हुआ और न जाने कहाँ-कहाँ भटकता हुआ सन् 1943 में प्रातः स्मरणीय महान् उपकारी पूज्य श्रीकानजी स्वामी का मेरे भाग्ययोग से समागम प्राप्त हो गया। कुछ वर्षों तक तो उनके बताये मार्ग पर भी पूर्ण निःशंकता प्राप्त नहीं हुई, तब तक भी इधर-उधर भटकता रहा। अन्ततोगत्वा सबही तरह से स्थूल रूप से परीक्षा कर यह दृढ़ निश्चय हो गया कि आत्मा को शांति प्राप्त करने का मार्ग अगर कोई हो सकता है तो मात्र एक यही है अन्य कोई मार्ग नहीं हो सकता। ऐसे विश्वास एवं पूर्ण समर्पणता के साथ उनके सत्सागम का पूरा-पूरा लाभ उठाने का प्रयत्न करता रहा फलतः जो कुछ भी मुझे प्राप्त हुआ उसमें जो कुछ भी है वह सबका सब अकेले पूज्य गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी का ही है। वे तो सद्ज्ञान के भंडार थे, आत्मानुभवी महापुरुष थे उनकी वाणी का एक-एक शब्द गहन गंभीर एवं सूक्ष्म रहस्यों से भरा हुआ अमृत तुल्य होता था। उनमें से अगर किसी विषय के ग्रहण करने, समझने में मैंने भूल की हो और उसके कारण इस लेखमाला में भी भूल हुई हो तो

वह सब मेरी बुद्धि का ही दोष है और जो कुछ भी यथार्थ है वह सब पूज्यश्री स्वामीजी की ही देन है। उनकी उपस्थिति में भी एवं स्वर्गवास के पश्चात् भी जैसे-जैसे मैं जिनवाणी का अध्ययन करता रहा, उनके उपदेश का एक-एक शब्द जिनवाणी से मिलता था उससे भी उनके प्रति मेरी श्रद्धा बहुत दृढ़ हुई। वास्तविक बात तो यह है कि जिनवाणी के अध्ययन करने के लिये दृष्टि भी पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा ही प्राप्त हुई है, अन्यथा मोक्षमार्ग के लिये हम बिल्कुल अंधे थे। अतः इस पामर प्राणी पर तो पूज्य श्रीस्वामीजी का तीर्थकर तुल्य उपकार है जिसको यह आत्मा इस भव में तो क्या, भविष्य के भवों में भी नहीं भूल सकेगा।"

इसप्रकार जो कुछ भी गुरु उपदेश से प्राप्त हुआ और अपनी स्वयं की बुद्धिरूपी कसौटी से परखकर स्वानुभव द्वारा निर्णय में प्राप्त हुआ उसी का संक्षिप्त सार अपनी सीधी सादी भाषा में प्रस्तुत करने का यह अन्तिम प्रयास है। मेरी उम्र 78 वर्ष की है और इस कृति का जो भाग शेष है वह भी मेरे इस जीवन काल में सम्पूर्ण तैयार हो, प्रकाशित होकर आत्मार्थी बंधुओं को मोक्षमार्ग प्राप्त करने का मार्ग सुगमता से प्राप्त करावे - यही एक भावना है।

इसप्रकार प्रस्तुत प्रकाशक आत्मार्थी जीवों को यथार्थ मार्ग प्राप्त करने में कारण बने इस भावना के साथ तथा मेरा उपयोग जीवन के अन्तिम क्षण तक भी जिनवाणी की शरण में बना रहे एवं उपरोक्त यथार्थ मार्ग मेरे में सदा जयवंत रहे इसी भावना के साथ विराम लेता हूँ।

— नेमीचंद पाटनी

## सार-संक्षेप ( भाग - एक )

सुखी होने का उपाय भाग-१ के माध्यम से हमने यह समझा कि इस विश्व के अस्तित्व का गंभीरता से अध्ययन करें तो यह विश्व छह द्रव्यों के समुदाय के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। वे छहों द्रव्य सब मिलकर संख्या की अपेक्षा अनंतानंत है। वे सब ही द्रव्य हर समय अपनी-अपनी अवस्थाओं अर्थात् पर्यायों को किसी अन्य द्रव्य की सहायता, सहयोग अथवा किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप के बिना अनवरत रूप से करते रहते हैं। उनके इसप्रकार के परिणमन को कोई भी द्रव्य न तो रोक ही सकता है, न अटका ही सकता है अथवा न किसी भी प्रकार से फेरफार कर सकता है। इस ही से सारे विश्व की व्यवस्था सुनिश्चित है और अनादि-अनंत टिकी हुई है।

इन अनंतानंत पदार्थों अर्थात् द्रव्यों में मैं भी एक द्रव्य हूँ, मैं भी सभी द्रव्यों की तरह अपने ही गुणों में किसी भी अन्य द्रव्य के हस्तक्षेप के बिना अपने परिणमन अर्थात् पर्याय को अनादि से करता ही रहा हूँ और भविष्य में भी अनंत काल तक निर्बाध गति से करता ही रहूँगा। अतः मेरे हर समय के परिणमन अर्थात् पर्याय का उत्तरदायित्व मेरे अकेले का ही है।

जगत् के छह जाति के अनंतानंत द्रव्यों में से किसी भी द्रव्य अथवा उसकी किसी भी पर्याय अथवा किसी भी प्रकार के कर्म आदि का उसमें हस्तक्षेप नहीं है। साथ ही मेरी किसी भी पर्याय के बिगाड़ को सुधारने की जिम्मेदारी भी मेरी अकेले की ही है, इसीप्रकार अच्छी पर्याय को

बिगाड़नेवाला भी अकेला मैं ही हूँ, उसके बिगाड़-सुधार में अन्य कोई की किसीप्रकार की जिम्मेदारी नहीं है। इस ही प्रकार मेरा कोई अभाव करना चाहे अर्थात् नाश करना चाहे, तो जगत् में किसी के भी ऐसी ताकत ही नहीं है, जो मेरा नाश कर दे । मैं किसी की दशा में रहूँ, मेरा द्रव्य ही स्वयं अपनी पर्यायों को बदलते हुए अनादिअनंत काल तक कायम बना रहेगा, उसे कोई उत्पन्न भी करनेवाला नहीं हो सकता तथा नाश करनेवाला भी नहीं हो सकता । ऊपर कहे अनुसार जगत् के सभी द्रव्य निर्बाध गति से स्वतंत्रतया परिणमन करते ही रहते हैं, फिर भी हर समय हर एक द्रव्य में कोई न कोई कार्य तो सम्पन्न होता ही रहता है, अतः हर एक कार्य की सम्पन्नता के समय पाँच हेतुओं का समवायीकरण भी सहज रूप से होता ही रहता है। उन पाँच हेतुओं में एक निमित्त नाम का हेतु भी है, जो कार्य की सम्पन्नता के समय उपादान के कार्यरूप होनेवाले द्रव्य जिसको उपादान कहते हैं; से अतिरिक्त अन्य ही होता है। उस निमित्त रूप अन्य द्रव्य ने उस कार्य की सम्पन्नता में किंचित् भी सहयोग नहीं किया, फिर भी उसको उस कार्य में कारण संज्ञा, इसलिये मिलती है क्योंकि जगत् के अनन्तानंत द्रव्यों में से उपादानरूप द्रव्य के कार्यरूप परिणमन के समय उस कार्य के होने में उस द्रव्य में ही अनुकूल होने की योग्यता है, इसलिये मात्र उस द्रव्य की उससमय की पर्याय को ही उस कार्य का उससमय के लिये निमित्त कहा जाता है। इस ही का नाम निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। कर्त्ताकर्म संबंध तो द्रव्य का अपनी पर्याय के अर्थात्

तत्स्वरूप के साथ ही होता है और निमित्त-नैमित्तिक संबंध एक द्रव्य का, दूसरे के साथ अर्थात् अतत्स्वरूप के साथ होता है अतः दोनों में बड़ा अंतर है।

यहाँ प्रश्न खड़ा है कि हर एक कार्य तो निमित्त के अनुसार ही हो रहा है ऐसा दिखता है?

उसका उत्तर दिया गया है कि जिससमय कार्य हुआ उससमय उपादानरूप द्रव्य ने अपनी पूर्व अवस्था व्यथ करके उससमय की उस कार्यरूप पर्याय का उत्पादन किया और उसी समय अनंत द्रव्यों में से कोई एक द्रव्य जो उस कार्य के अनुकूल हुआ उसको उसीसमय निमित्त-संज्ञा प्राप्त हुई। दोनों ही एक ही काल में उपस्थित तो रहते ही हैं। वहाँ देखनेवाला अगर संयोग (निमित्त) को मुख्य करके संयोगीदृष्टि से उस कार्य को देखेगा तो वह कार्य निमित्त जैसा होने के कारण निमित्त ने पैदा किया ऐसा दिखने लगता है और उसीसमय उसी कार्य को स्वभाव की दृष्टि अर्थात् उपादान की दृष्टि से देखा जावे तो, वह कार्य उपादानरूप द्रव्य का ही उत्पादन है, उस ही की पर्याय है। अतः निःसंदेह उस कार्य का उत्पादक उपादान ही है, निमित्त नहीं, ऐसा विश्वास में आता है। लेकिन संयोगी दृष्टि पराधीनश्रद्धा की उत्पादक, पुरुषार्थ का घात करनेवाली होने से उपादेय नहीं हो सकती। स्वभावदृष्टि की श्रद्धा स्वाधीनता की उत्पादक है, आत्मा को अपनी पर्याय में होनेवाले विकार को अभाव करने का उग्र पुरुषार्थ जाग्रत करती है, अतः हमारे प्रयोजन सिद्ध करनेवाली होने से स्वभावदृष्टि ही सर्वथा उपादेय है।

इसप्रकार हर एक द्रव्य के परिणमन की स्वतंत्रता की श्रद्धा जाग्रत होने से हमारी आत्मा में अनंत निर्भयता एवं

अपने गुणदोष को अकेला अपने आपको उत्पादक मानने की श्रद्धा उत्पन्न होती है तथा अपने दोषों का कर्ता अन्य को मानने की झूठी आदत का नाश होकर उन अपराधों के अभाव करने का उग्र पुरुषार्थ जाग्रत होता है। जिस पुरुषार्थ की हमारी आत्मा में पवित्रता के उत्पादन के लिये अत्यन्त-अत्यन्त आवश्यकता है । इसप्रकार की श्रद्धा से अनन्त द्रव्यों में भेदज्ञान उत्पन्न होकर अपने कल्याण के लिये अन्य सब पर पदार्थों से दृष्टि हट कर मात्र अकेले अपने आत्मा पर ही केन्द्रित हो जाती है।

उक्त पुस्तक में ही "वत्थु-सहावो धम्मो" सूत्र की व्याख्या के माध्यम से यह विषय भी स्पष्ट किया गया है कि जगत् के छह द्रव्यों का परिणमन उन-उन द्रव्यों के स्वभाव (गुणों) के अनुकूल ही होता रहे यही हर एक वस्तु का अपना-अपना धर्म है। इस सिद्धान्त के अनुसार खोज करने पर जगत् के पाँच द्रव्य तो अचेतन ही हैं, वे न तो अपना ही अस्तित्व, स्वभाव आदि जानते हैं और न किसी अन्य को ही जानते हैं, इसकारण वे तो सब ही अचेतनरूप, अपने स्वभावरूप ही परिणमन करते रहते हैं, कोई भूल होने का प्रश्न ही संभव नहीं हो सकता। लेकिन उन सब में एक मात्र जीव ही अपने ज्ञान (चेतनशक्ति) के द्वारा अपना तथा अन्य का अस्तित्व तथा अपने स्वभाव अथवा विभाव को जान सकता है। अतः भूल भी वही करता है तथा भूल का अभाव भी वह ही अपने में कर सकता है।

उपर्युक्त सिद्धान्त स्वीकार हो जाने पर जीव द्रव्य के स्वभाव एवं विभाव का ज्ञान भी प्रथम पुस्तक के माध्यम से किया गया है। आत्मा का स्वभाव तो मात्र जानना ही है, राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभादि आत्मा के स्वभाव



नहीं है। आत्मा रागादि का नाश करना चाहता है, बनाये रखना नहीं चाहता; साथ ही ज्ञान की वृद्धि चाहता है, उसका नाश नहीं चाहता। क्रोधादि भाव आते हैं—चले जाते हैं, स्थायी नहीं रहते तथा रुकते भी नहीं हैं, लेकिन ज्ञानभाव तो स्थायी भाव है, उसका कभी अभाव ही नहीं होता। जब-जब क्रोधादि आत्मा में पैदा होते हैं, उससमय भी ज्ञान उन क्रोधादि भावों से भिन्न उपस्थित रहकर साक्षीरूप से उनको जानता रहता है और उन क्रोधादि भावों (जिनको उनकी उत्पत्ति के काल में साक्षी रहकर परज्ञेयरूप में जान रहा था) का अभाव हो जाने पर भी अपनी स्मृति में ज्यों का त्यों वर्तमानवत् उपस्थित रखता है और वर्षों के अन्तराल के बाद भी जब चाहो, उस प्रसंग को आत्मा के ज्ञान में उपस्थित कर देता है। इससे आत्मा का ज्ञान स्वभाव ही स्थायी है और यह ही आत्मा का स्वभाव है; लेकिन क्रोधादि भाव स्थायी नहीं होने से स्वभाव नहीं है। अतः आत्मा का स्वभाव ज्ञान ही है — ऐसा निर्णय, श्रद्धा एवं अनुभव से भी सिद्ध होता है।

निष्कर्ष यह निकलता है कि जब हर एक वस्तु का अपने स्वभाव रूप परिणमन करना ही उस वस्तु का धर्म है, तब आत्मा का धर्म भी एक मात्र स्व-पर के ज्ञातारूप परिणमन करते रहना ही तो है, जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण भगवान अरहंत की आत्मा है, जो निरंतर ज्ञायकरूप ही परिणमती है, अन्य क्रोधादि कोई प्रकार के परिणमनों का अंश भी उनमें नहीं रहता। पं. दौलतरामजी ने कहा भी है —

"सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानंद रस लीन।  
सो जिनेन्द्र जयवंत नित, अरि रज रहस विहीन"

उपर्युक्त सभी ऊहापोहों के माध्यम से जीव द्रव्य का स्वभाव ज्ञान ही है - ऐसा सिद्ध होता है। अतः मैं भी तो उन अनंत जीव द्रव्यों में से ही तो एक जीव हूँ, अतः मेरा भी स्वभाव तो एकमात्र जानना ही है, क्रोधादि नहीं है।

उक्त निर्णय के पश्चात् उस पात्र आत्मार्थी जीव को यह जानने की जिज्ञासा सहज उत्पन्न होती है कि आत्मा मात्र ज्ञायक ही कैसे है? तथा ये क्रोधादि भाव उत्पन्न ही कैसे होते हैं? और इनका अभाव भी कैसे किया जावे? उक्त जिज्ञासा की पूर्ति इस पुस्तक (भाग-२) में की गई है। जिसका विस्तार विषयसूची से ज्ञात करें।

अतः आत्मार्थी जीव को परद्रव्यों पर से दृष्टि हटाकर उपयोग को एकाग्र कर मात्र अपने अन्दर होनेवाले गुण और पर्यायों के स्वरूप एवं कार्यों को भले प्रकार समझ कर अपने में ही अहंबुद्धि प्रगट कर उपयोग को स्व में एकाग्र कर तन्मय हो जाना चाहिये।



श्री

# सुखी होने का उपाय

भाग-2

(आत्मा की अन्तर्दशा एवं स्व तत्त्व निर्णय)

मंगलाचरण

तज्जयति पंरज्योतिः समं समस्तैरनंत पर्यायै।  
दर्पण तल इव सकला प्रतिफलाति पदार्थ मालिका यत्रः

## दुःख, सुख तथा धर्म की परिभाषा

पूर्वबद्ध पापकर्म के उदय में अच्छे नहीं लगनेवाले प्रतिकूल संयोग मिलते हैं। उनके मिलने पर आत्मा कर्त्तव्यबुद्धि के अभिप्राय के कारण अपने स्वभाव को भूलकर, वे मुझे अनिष्ट हैं, इनको मैं दूर कर सकता हूँ, ऐसी मान्यता के सद्भाव में द्वेषभावरूप तीव्र आकुलित होता है। इसीप्रकार उपरोक्त मान्यता के सद्भाव में अच्छे लगनेवाले संयोगों के चले जाने पर इष्टवियोगजनित द्वेषरूप में तीव्र आकुलित होता है। इसी रागद्वेष रूप आकुलता को संसारी प्राणी दुःख कहते हैं।

पूर्वबद्ध पुण्यकर्म के उदय में इस जीव को अच्छे लगनेवाले अनुकूल संयोग मिलते हैं। उनके मिलने पर आत्मा कर्त्तव्यबुद्धि के अभिप्राय के कारण अपने स्वभाव को भूलकर, वे मेरे हैं, मैंने इनको प्राप्त किया है, मैं इनके

रखने-भोगने का अधिकारी हूँ, इनके भोगने में इनसे मुझे सुख मिलता है—ऐसी मान्यता के सद्भाव में राग से आकुलित होता है। इसीप्रकार अनिष्ट संयोग मिल जाने पर भी पुण्य के योग से उनका अभाव अथवा कमी हो जाने पर, इनको मैंने दूर किया, ये सुख के साधन हैं, इसलिये मैंने अभाव नहीं होने दिया आदि ऐसी मिथ्या मान्यता के सद्भाव में राग से आकुलित होता है। इसी रागद्वेष रूपी आकुलता को संसारी प्राणी सुख कहते हैं।

उपर्युक्त दोनों प्रकार से होनेवाली आकुलता का मूल कारण, अपने आत्मा से भिन्न अन्य पदार्थों—जैसे शरीर आदि में मैपना, अहंपना तथा उनके परिणमनों (पर्यायों) में कर्त्ताबुद्धि अर्थात् मैं परद्रव्यों के परिणमनों का कर्त्ता हूँ, ऐसी मिथ्या मान्यता है। उस मिथ्या मान्यता का अभाव; अपने आत्मा का सच्चा स्वरूप समझकर अपने आत्मा में अहंपना (मैपना) स्थापन कर, अन्य परिणमनों का अपने आपको अकर्त्ता अर्थात् कर्त्ता नहीं मानकर, मात्र साक्षी अर्थात् ज्ञाता मानकर श्रद्धा में उन सबसे अत्यन्त उपेक्षित हो जाने से अपना उपयोग स्व के सन्मुख दौड़ाने का उत्सुक होकर कार्यशील हो जाता है, यह आत्मा का परम कल्याणकारी सबसे पहला सम्यग्दर्शनरूपी धर्म है। ऐसा धर्म आत्मा में प्रगट होते ही निर्भर हो जाने से उपरोक्त दोनों प्रकार की दुःख तथा सुख रूपी आकुलता का आंशिक अभाव होकर, आत्मा में आंशिक स्वाभाविक शांति प्रगट होती है। उसी को शास्त्रीय भाषा में चतुर्थ गुणस्थान की उत्पत्ति तथा अनंतानुबंधी कषाय के अभाव स्वरूप आत्मा में निराकुल सुख की प्रगटता कही गई है। उसी ही ज्ञायक अकर्त्ता स्वभावी निर्भर आत्मा में परके प्रति उपेक्षा बढ़ जाने से अपना उपयोग स्वमें रुककर अर्थात् स्थिरता प्राप्त

3)

(सुखी होने का उपाय

कर, क्रमशः आत्मा में आकुलता की उत्पत्ति घटती मानी तथा निराकुल स्वभाविक आत्मा के आनंद की अनुभूति क्रमशः बढ़ते जानी, वह आत्मा को परम उपादेय सम्यक्चारित्ररूपी धर्म है। इसी को आगम में पांचवें से चौदह गुणस्थानों के माध्यम से समझाया है।

इस प्रकार उपर्युक्त दुःख, सुख तथा धर्म की परिभाषा संक्षेप में प्रस्तुत की गई है। इस ही का विस्तृत विवेचन समस्त जिनवाणी अर्थात् सारा द्वादशांग में है। हमको भी अपनी आत्मा में उठनेवाले रागद्वेष, सुखदुख रूपी भावों का अभाव करके, अपने आत्मा में उपरोक्त धर्म को प्रगट करने के लिए धर्म के स्वरूप को सम्यक् प्रकार से समझना है।

## धर्म का सरल मार्ग प्राप्त करने की जिज्ञासा

हमारी एक गंभीर समस्या है कि हमारा जीवन तो थोड़ा, बुद्धि कम और द्वादशांग अथाह समुद्र है, अतः हमारा कल्याण कैसे हो ?

पंडित भूधरदासजी ने जैनशतक में शंका उत्पन्न करके, उसका समाधान भी दिया है -

जीवन अल्प, आयु-बुद्धि-बल-हीन, जामें, आगम अगाध सिंधु कैसे ताहि डाकि है ?  
द्वादशांग मूल एक अनुभव अपूर्व कला,  
भवदापहारी घनसार की सलाक है॥

यही एक सीख लीजे, यही को अभ्यास कीजे,  
याही को रस पीजे, ऐसी वीर जिन वाक् है।  
इतनों ही सार यही आत्म को हितकार,  
यही लों मदार और आगे दूकड़ाक है॥

अतः हमको तो ऐसा संक्षिप्त साररूप धर्म का मार्ग चाहिए जिससे हम इस भव में ही अर्थात् वर्तमान पर्याय में ही अपना कल्याण कर सकें। यह बात असंभव भी नहीं है। शास्त्र में कहा है कि तिर्यच गति का जीव भी सम्यग्दर्शन प्रगट कर सकता है। अतः हम तो मनुष्य हैं। निश्चित रूप से इस भव में धर्म प्रगट करेंगे ही, क्योंकि यह भव चला जाने के बाद, न जाने ऐसा अवसर प्राप्त भी होगा या नहीं, अतः मुझे तो अवश्य ही धर्म प्रगट करना है। ऐसे संकल्प के साथ जो धर्म समझने का पुरुषार्थ करेगा ऐसे जीव को धर्मप्राप्ति करने का सरल एवं संक्षिप्त मार्ग इस पुस्तक में वर्णन करने का प्रयास किया गया है।

इसप्रकार आत्मार्थी जीव को पूर्ण संकल्प, तीव्र रुचि एवं लगन के साथ अपने कल्याण के लिए, धर्म का स्वरूप एवं उसके प्राप्त करने की विधि समझकर अपने आत्मा में प्रगट करना चाहिए। इस ही में इस मनुष्य जीवन की सफलता है।

## धर्म प्रगट करने का पात्र जीव एवं पांच लब्धियाँ

आत्मार्थी जीव को धर्म प्रगट करने की पात्रता का विवेचन आगम में पाँच लब्धियों के माध्यम से किया गया है। इस लोक में अनंत जीव द्रव्य हैं। उनमें से सैनी पंचेन्द्रिय जीव के अतिरिक्त अन्य को तो धर्म प्रगट करने की योग्यता ही नहीं है। सैनी पंचेन्द्रिय जीवों में भी परिपक्व बुद्धि हो, जो कि मनुष्य को आठ वर्ष की उम्र के बाद होती है, ऐसी परिपक्व बुद्धिवाले जीव ही अगर

5)

(सुखी होने का उपाय)

अपनी उस बुद्धि का उपयोग आत्मा का (अपना) धर्म समझने में करें तो मात्र ऐसे ही जीव धर्म प्रगट करने की पात्रता के योग्य होते हैं। ऐसे जीवों की पात्रता की प्रगटता किस प्रकार से होती है, उसका वर्णन जिनवाणी में पाँच लब्धियों के माध्यम से किया गया है। वह समझना चाहिए।

मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ करनेवाले जीव को निम्न पाँच लब्धियाँ होती ही हैं। वे हैं—क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य एवं करण। इनका स्वरूप मोक्षमार्ग प्रकाशक के सातवें अधिकार के पाँच लब्धियों के प्रकरण में निम्न प्रकार किया है:-

**क्षयोपशमलब्धि :-** जिसके होने पर तत्त्वविचार हो सके, ऐसा ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षयोपशम का होना।

**विशुद्धिलब्धि :-** मोह का मन्द उदय आने से मन्दकषाय रूप भाव हो, जिससे तत्त्वविचार हो सके।

**देशनालब्धि :-** जिनदेव के उपदिष्ट तत्त्व का धारण हो, विचार हो।

**प्रायोग्यलब्धि :-** सम्यग्दर्शन प्राप्त होने योग्य परिणामों की अवस्था का होना।

**करणलब्धि :-** जिसके उपरोक्त चार लब्धियाँ तो हुई हों और अन्तर्मुहूर्त पश्चात् जिसको सम्यक्त्व होना हो, उसी जीव के करणलब्धि होती है।

## १. क्षयोपशमलब्धि

समझने की योग्यतावाला ज्ञान का क्षयोपशम (प्रगटता) तो हर एक सैनी पंचेन्द्रिय जीव को होती ही है, लेकिन जो

जीव अपनी उस ज्ञान की प्रगटता का उपयोग तत्त्व (आत्मा) के निर्णय करने में लगावे, उस ही जीव की, उस ज्ञान की प्रगटता की प्राप्ति को क्षयोपशमलब्धि कहते हैं। अगर उस ज्ञान की प्रगटता का उपयोग वह जीव तत्त्वनिर्णय में नहीं करे और संसार का प्रयोजन साधने में अथवा अन्य किसी भी कार्य में करे तो उस जीव के उस ज्ञान के क्षयोपशम को क्षयोपशमलब्धि नहीं कहते।

## २. विशुद्धिलब्धि

यह तो सबको भले प्रकार से अनुभव है कि आत्मा का धर्म समझने (तत्त्वनिर्णय) में उपयोग उसीसमय लगता है, जब इस जीव को संसार, देह तथा भोगों के प्रति आसक्ति (गृद्धता) कम होती है। कषाय की उग्रता तथा भोगों में लिप्त प्राणी को धर्म के प्रति विचार भी नहीं आता। अतः इसप्रकार की कषाय की मंदता रूप भाव हो और इसका उपयोग तत्त्वनिर्णय में लगे - ऐसे भावों की प्राप्ति को विशुद्धिलब्धि कहते हैं।

विशुद्धिलब्धि युक्त प्राणी विचार करता है कि मेरे इस वर्तमान जीवन का अंत तो निश्चय रूप से होने ही वाला है, फिर मैं कहाँ जाऊँगा ? जहाँ जाकर जन्म लेना होगा वहाँ कैसे संयोग मिलेंगे ? इस जन्म-मरण का अभाव कैसे करूँ ? आदि-आदि बातों के द्वारा अपने आत्मा के संबन्ध में कुछ करने का भाव जाग्रत हुआ हो। ऐसे भी विचार आवें कि इस लोक में अनन्त जीव हैं, उनमें सैनी पंचेन्द्रिय अति अल्प है। उनमें भी मनुष्य कितने से, और मनुष्यों में भी जैन कितने से, उनमें भी जिन्होंने अपने ज्ञान की प्रगटता को आत्मा को समझने में लगाया हो, ऐसे जीव कितने अल्प है। उन दुर्लभ अति अल्प जीवों में से



मैं भी एक हूँ। अतः मैं कितना भाग्यशाली हूँ; इसलिए अब अपने जीवन को व्यर्थ नहीं खोकर मैं तो अपने आत्मधर्म को प्राप्त करूँगा आदि-आदि विचारोवाला प्राणी सत्समागम प्राप्त करने का प्रयास करता है। ऐसे भावों को विशुद्धिलब्धि की प्राप्ति कहते हैं।

### ३. देशनालब्धि

उपर्युक्त पात्र जीव जब सत् अर्थात् अपने आत्म के कल्याण का मार्ग समझने के लिये सत्समागम का अभिलाषी होकर ज्ञानी गुरु के पास आता है, उस पात्र जीव को सत्समागम के माध्यम से जो भी उपदेश मिलता है, उसका बुद्धि में धारण होकर ग्रहण हो तथा उस पर स्वकल्याण के ध्येय से गंभीरता पूर्वक विचार चले, उस ज्ञान की दशा को देशनालब्धि कहते हैं।

देशना अर्थात् मोक्षमार्ग प्राप्त करने का उपदेश। उस उपदेश का ही विस्तार सारा जिनागम अर्थात् द्वादशांग वाणी है। सारी द्वादशांग वाणी के उपदेश का सार इस संसारी प्राणी को संसार दुःख से छूटने का उपाय बताना ही तो है। आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा भी है कि —

देशयामि समीचीन धर्म कर्म निर्वहण।

संसारदुःखतः सत्वान् धरत्युत्तमे सुखे॥२॥

अर्थ:- मैं उस समीचीन धर्म को कहूँगा, जो कर्म (भावकर्म) का नाश करके, संसार-दुःख से छुड़ाकर इस संसारी प्राणी को उत्तम सुख (मोक्षसुख) को प्राप्त करा देवे।

तात्पर्य यह है कि देशना अर्थात् सच्चा उपदेश वही है, जिसमें संसार भ्रमण के कारणों को समझाकर, उनके अभाव

करने का उपाय बताया गया हो। उस उपदेश का विस्तार सारी द्वादशांग वाणी है।

ऐसी देशना को सुनकर, प्राप्तकर उसका धारण हो अर्थात् अपने ज्ञान में ऐसा ग्रहण हो, जिससे आत्मा में संस्कार पड़ें तथा कालान्तर में उसका विस्मरण भी न हो, उस पर विचार, मनन, चिन्तन आदि अनेक ऊहापोहों आदि के माध्यम से अपने अंतरंग में पक्का निर्णय होकर भावभासन हो जावे। उस सारी प्रक्रिया का नाम देशनालब्धि है, शास्त्र में भी देशना के ५ भेद कहे हैं:- (१) श्रवण, (२) ग्रहण, (३) धारण, (४) निर्धारण, (५) परिणमन। इसप्रकार देशनालब्धि का विस्तार, निर्णय होकर परिणमन होने तक है। मात्र सुन लेने का नाम ही देशनालब्धि नहीं है। उस संपूर्ण प्रक्रिया पर विस्तार से चर्चा इस भाग में आगे करेगे।

#### ४. प्रायोग्यलब्धि

पूर्वकथित तीनों लब्धियों को प्राप्त जीव, जब देशनालब्धि से प्राप्त, आत्मा की शांति प्राप्त करने के उपायों को अर्थात् मोक्षमार्ग को समझ लेता है, तब उस मार्ग का प्रयोग अपने आत्मपरिणामों में करने के लिये तत्पर होता है। जिन कारणों से आत्मा का उपयोग अपने ज्ञायक अकर्ता स्वभावी अपने आत्मा अर्थात् ज्ञान को छोड़कर अन्य द्रव्यों में अर्थात् परज्ञेयों में दौड़ता-भागता फिरता है, इससे आकुलित हो-होकर दुःखी होता रहता है। उन कारणों को और उन को दूर करने के उपायों को भी जिसने उपदेश के द्वारा समझ लिया है, तथा अपने अकर्ता स्वभावी ज्ञायक आत्मा के स्वरूप को भी देशना के द्वारा यथार्थ समझकर विकल्पात्मक ज्ञान के द्वारा उसमें अपनापन

स्थापन कर लिया है। ऐसे जीव को आत्मा के ज्ञान में आनेवाले ज्ञेयों का परपना अनित्यपना आदि समझकर अपने आत्मा में पूर्ण संतोषवृत्ति धारण कर परज्ञेयों का आकर्षण भी छूट गया है। फलस्वरूप अपने उपयोग की परसन्मुखता भी ढीली होने लगती है। ऐसे उपायों को जिसने समझ लिया है, ऐसा आत्मार्थी जीव, उस देशना के द्वारा प्राप्त उपायों का जब अपने आत्मपरिणामों में प्रयोग करता है, तब उसका उपयोग पर से हटकर भेदज्ञान के माध्यम से अपने आत्मा के सन्मुख उत्तरोत्तर सूक्ष्म होता जाता है। ऐसी दशा में उस जीव के परिणामों में जो निर्मलता होती जाती है, उसे मिथ्यात्व मंद होता जाता है। परज्ञेयों के प्रति उत्साह-निवृत्ति होती जाती है। ऐसी आत्मपरिणामों की दशा को प्रायोग्यलब्धि के परिणाम कहे गये हैं। ऐसे उपायों की विस्तार से चर्चा आगे करेंगे।

#### ५. करणलब्धि

उपर्युक्त चारों लब्धियों को प्राप्त जीव को ही करणलब्धि के परिणाम होते हैं। प्रायोग्यलब्धि के परिणामवाले जीव को भेदविज्ञान के माध्यम से विकल्पात्मक ज्ञान के द्वारा ही त्रिकाली निज आत्मद्रव्य में स्वपना, अहंपना हो जाता है। फलस्वरूप अपने परिणामों की स्व सन्मुखता बढ़ती जाती है। स्व में ही अपनी एकाग्रता में तन्मयता बढ़ती जाती है। उसके उपयोग में अनेक ज्ञेयों के आकार उपस्थित होते हुए भी उनके प्रति परपना आ जाने से उनकी ओर आकर्षित होने में अत्यन्त ढीलापन आता जाता है एवं अपने निज आत्मद्रव्य में स्वपना आ जाने से उसके प्रति आकर्षण बढ़ जाने के कारण उपयोग की उस ओर आने की उत्सुकता बढ़ती जाती है; और वे परिणाम

उत्तरोत्तर इतने बलिष्ठ होते जाते हैं कि अब किसी भी प्रकार से अपने ध्येय से पीछे हटनेवाले नहीं हैं। अर्थात् अपने निजात्मा में ही पूर्ण अहंबुद्धि प्रगट कर परज्ञेयों के प्रति अत्यंत उपेक्षित होने से पक्षातिक्रान्त हो जाता है तथा अपने अनंत गुणों की फौज को उपयोग के साथ लेकर एक बार आत्मसाक्षात्कार प्राप्त कर निजात्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का उपभोग करेंगे ही। ऐसे परिणामों का विवेचन शब्दों के माध्यम से किया जाना अशक्य है। ये परिणाम केवलीगम्य हैं अथवा अनुभवगम्य हैं, फिर भी इनका संकेत मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ के पृष्ठ २६२ में निम्न शब्दों में आया है:-

" सो इस करणलब्धिवाले के बुद्धिपूर्वक तो इतना ही उद्यम होता है कि उस तत्त्वविचार में उपयोग को तद्रूप होकर लगाये, उससे समय-समय परिणाम निर्मल होते जाते हैं। तथा इन परिणामों का तारतम्य केवलज्ञान द्वारा देखा, उसका निरूपण करणानुयोग में किया है।"

इस प्रकार करणलब्धि वाला जीव अपने अकर्तास्वभावी त्रिकाली ज्ञायक भाव में ही आत्मबुद्धि प्रगट कर एकबार आत्मसाक्षात्कार करके, निजानंदरस का पानकर, अपनी पर्याय में सम्यग्दर्शनरूपी धर्म प्रगट कर लेता है। इस पर विशेष चर्चा विस्तार से इसी पुस्तक के भाग ३ में करेंगे। वहाँ से एवं जिनवाणी से विस्तार से समझकर हर एक प्राणी अपने अंतर में ऐसा सम्यग्दर्शनरूपी धर्म प्रगट करे, ऐसी भावना के साथ यह पाँच लब्धियों का प्रकरण समाप्त करता हूँ।

## पाँच लब्धियों का सार

पाँच लब्धियों के प्रकरण के सार को संक्षेप में समझा जावे तो इसप्रकार है— क्षयोपशमलब्धि एवं विशुद्धिलब्धि में पूर्वपुण्य के उदय से जो वर्तमान में पूर्वकथित अनुकूल संयोग प्राप्त हुए, इसमें आत्मा का वर्तमान का पुरुषार्थ नहीं है। लेकिन उपरोक्त संयोग मिलने पर उनका धर्म समझने के लिये ही उपयोग करना, अन्य में नहीं करना, यह आत्मा का वर्तमान का पुरुषार्थ ही है। अतः आत्मा को उक्त संयोगों का पूरा-पूरा लाभ लेना चाहिये।

**देशनालब्धि :-** पूर्व पुण्योदय से तथा अपनी वर्तमान रुचि के द्वारा सत्समागम प्राप्त हो जाता है। लेकिन उस सत्समागम के अवसर का पूरा-पूरा लाभ उठाकर आत्मा के धर्म को समझने का उग्र पुरुषार्थ करना, यह तो इस आत्मा का वर्तमान पुरुषार्थ है। देशनालब्धि में तत्त्व (आत्मा) के स्वरूप का धारण एवं विचार करने में आत्मा का ज्ञान परलक्षी ही बना रहता है, अतः परलक्षी ज्ञान के माध्यम से प्रमाण-नय-निक्षेप आदि के द्वारा तत्त्व संबंधी निर्णय होता है, वह परोक्षरूप अनुमान ज्ञान पूर्वक विकल्पात्मक निर्णय ही कहा जाता है। इस भूमिकावाले जीव की परज्ञेयों के प्रति कर्त्ताबुद्धि ढीली पड़ जाने से मिथ्यात्व मंद होता जाता है तथा कषाय भी मंद हो जाती है, परन्तु आत्मा को यथार्थ आत्मिक शान्ति प्रगट नहीं होती।

**प्रायोग्य एवं करणलब्धि :-** इन दोनों लब्धियों में पूर्व पुण्य के उदय का संबंध नहीं होकर, आत्मा का वर्तमान का उग्र पुरुषार्थ ही कार्य करता है। देशनालब्धि के माध्यम से जो परलक्षी विकल्पात्मक ज्ञान द्वारा अपना त्रिकाली

अकर्ता ज्ञायकभाव में अहंपना स्थापन कर ज्ञेयों के प्रति परपना स्थापना हो जाने के कारण श्रद्धा में पर के प्रति अकर्ताभाव एवं उपेक्षाभाव जाग्रत हो जाता है। वही ज्ञान स्वलक्षी होकर पूर्व अवस्था के परलक्षी ज्ञान द्वारा प्राप्त निर्णय का प्रयोग आत्मा में होने लगता है और वही स्वलक्षी ज्ञान बढ़ते-बढ़ते करणलब्धि को पारकर सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेता है।

तात्पर्य:- यह है कि प्रायोग्य एवं करणलब्धि का पुरुषार्थ मात्र स्वलक्षी ज्ञान की तारतम्यता ही है।

इसप्रकार पाँचों लब्धियों का संक्षेप से स्वरूप समझा, इसको समझकर आत्मार्थी जीव यथायोग्य पुरुषार्थ प्रगट करे, यही भावना है।

## तत्त्वनिर्णय

देशना (उपदेश) कहाँ से प्राप्त हो

आत्मार्थी जीव जब धर्म समझने के लिये उद्यत होता है, तो सर्वप्रथम उसके सामने प्रश्न उपस्थित होता है। कि यथार्थ-मार्ग कहाँ से प्राप्त किया जावे ?

उक्त प्रश्न का समाधान बहुत सीधा और सरल है - जिसको उस मार्ग का सच्चा ज्ञान हो उस ही से सच्चा-मार्ग मिलेगा। जैसे - लौकिक में भी हमारे अनुभव में है कि अगर हम रास्ते में चलते हुए भूल गए हों तो यथार्थ मार्ग एवं उस मार्ग की स्थिति, दूरी आदि जानने के लिये हम ऐसे व्यक्ति से सम्पर्क करेंगे, जिसको गतव्य स्थान के मार्ग का यथार्थ ज्ञान हो, अथवा गमन किया हो, वह ही पूरी बातों की जानकारी दे सकेगा और उन

जानकारियों से हमको उस मार्ग से गमन करना अत्यन्त सरल हो जावेगा। साथ ही आत्मविश्वास जाग्रत हो जाने से मन की भटकन खत्म होकर हमारी चलने की गति भी बढ़ जावेगी।

इसीप्रकार आत्मार्थी जीव को मोक्षमार्ग में गमन करने के पूर्व उसका मार्ग समझने के लिए, उनसे ही सम्पर्क करना कार्यकारी होगा, जिन्होंने स्वयं उस मार्ग को यथार्थ समझकर उस मार्ग के द्वारा गंतव्य प्राप्त कर लिया हो अथवा उस पर गमन कर रहे हों अर्थात् साधना कर रहे हों, वे ही सच्चे मार्गप्रदाता अर्थात् सच्चे उपदेशक हो सकते हैं।

तात्पर्य :- यह है कि सच्ची देशना के प्रदाता तो भगवान अरहंत ही हैं। अरहंत भगवान का आत्मा भी पहले तो हमारे जैसा ही आत्मा था। उनने भी सच्ची देशना के द्वारा अपनी आत्मा का स्वरूप अर्थात् मोक्षमार्ग का स्वरूप समझ कर, जगत् से उपेक्षित होकर, अपने ही पुरुषार्थ द्वारा उपरोक्त मार्ग की अपने आत्मा में साधना कर, पूर्णता को प्राप्त हो, सर्वज्ञदशा प्राप्त की। सर्वज्ञ का ज्ञान क्षायिक ह्ये जाने से प्रत्यक्षज्ञान हो गया, अतः उनके ज्ञान में मार्ग तथा मार्ग का फल तथा उसके द्वारा प्राप्त आत्मानुभूति आदि सब प्रत्यक्ष होकर दिव्यध्वनि के माध्यम से जो भी स्वरूप प्रकाशित होता है, वह ही परम सत्य मार्ग है। अतः सर्वोत्कृष्ट उपदेशक तो भगवान अरहंत ही हैं।

मध्यम उपदेशक चारित्र धारक आचार्य, उपाध्याय एव साधु परमेष्ठी हैं, जिन्होंने यथार्थ मार्ग समझकर व आत्म में परिणमित करके, उस मार्ग का फल जो आत्मा के आनंद की अनुभूति, उसका प्रत्यक्ष स्वाद लिया है एव

क्षण-क्षण में ले रहे हैं। उन्होंने भी अपने ज्ञान में मार्ग तथा मार्ग के फल को प्रत्यक्ष कर लिया है। अतः वे भी यथार्थ मार्गप्रदाता हैं।

जघन्य उपदेशक आत्मानुभवी सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष है, जिनने मार्ग को समझकर, उसकी साधना के द्वारा मार्ग के फल रूप आत्मा की शान्ति का प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया है। ऐसे ज्ञानी पुरुष द्वारा भी बताया गया मार्ग सत्यार्थ होता है, क्योंकि उन्होंने स्वयं उसकी सत्यता को अनुभव द्वारा प्रमाणित कर लिया है।

दिव्यध्वनि के द्वारा जो यथार्थ मार्ग प्रकाशित हुआ था, वही परंपरा से ज्ञानी महापुरुषों के द्वारा लिपिबद्ध होकर द्रव्यश्रुत (शास्त्र) के रूप में हमें उपलब्ध है। उसको भी परंपरापूर्वक व्यवहार से देशना का कारण कहा गया है। लेकिन वह द्रव्यश्रुत उस ही आत्मार्थी जीव को परंपरा कारण बनेगा, जिसने एकबार ज्ञानी गुरु के द्वारा उस द्रव्यश्रुत के अध्ययन करने के लिए दृष्टि प्राप्त कर ली हो। कारण यथार्थ मार्ग का उपदेश गुंथित होने पर भी द्रव्यश्रुत में मोक्षमार्ग के अनेक विषयों का भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं के द्वारा भिन्न-भिन्न स्थानों पर विवेचन किया हुआ होता है। शास्त्र स्वयं तो वह दृष्टिकोण (अपेक्षा) स्पष्ट कर नहीं सकता, अतः जिसने ज्ञानी गुरु से उन अपेक्षाओं को समझने की दृष्टि प्राप्त कर ली हो, ऐसे आत्मार्थी जीव को ज्ञानी के द्वारा प्राप्त देशना जिनवाणी के माध्यम से पुनः जाग्रत हो जाती है और उसको जिनवाणी (शास्त्र) का अध्ययन भी कारण कह दिया जाता है, लेकिन अज्ञानी गुरु के द्वारा प्रथम देशना के द्वारा आत्मोपलब्धि नहीं होती, क्योंकि उसने उस मार्ग को प्रत्यक्ष देखा नहीं है अर्थात् उसके ज्ञान में प्रत्यक्ष नहीं हुआ है।



मात्र सुनने से यथार्थता प्रमाणित नहीं होती, जैसे मिश्री का स्वाद नहीं चखने वाले एक पुरुष ने मिश्री के स्वरूप को निष्णात व्यक्ति के द्वारा गहराई से समझा हो, और दूसरे पुरुष ने प्रत्यक्ष स्वाद लिया हो, लेकिन स्वरूप समझने की चेष्टा भी नहीं की हो, उनमें से आप विचार करें मिश्री संबंधी वर्णन किसका यथार्थ होगा ? स्वाद चखनेवाले के वर्णन में ही यथार्थता हो सकती है।

इसीप्रकार ज्ञानी की देशना में ही यथार्थता आ सकती है, साथ ही इतनी बात अवश्य है कि ज्ञानी गुरु के द्वारा अगर एक बार यथार्थ देशना प्राप्त कर ली हो और वह विस्मरण हो जावे तो अज्ञानी गुरु के माध्यम से भी यथार्थ उपदेश प्राप्त हो अथवा जिनवाणी (द्रव्यश्रुत) के अध्ययन से यथार्थ मार्ग प्राप्त किया हो, तो वह सत्यार्थ देशना स्मृति में प्रगट हो सकती है। अतः इस अपेक्षा उस सत्यार्थ उपदेश को भी निमित्त कह दिया जाता है। नियमसार ग्रन्थ की गाथा ५३ में कहा भी है कि :-

सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्य जाणया पुरिसा।  
अन्तरहऊ भणिदां दंसणमोहस्स खयपहुदी ॥

अर्थ:- सम्यक्त्व का निमित्त जिनसूत्र है, जिनसूत्र के जाननेवाले पुरुषों को सम्यक्त्व के अंतरंग हेतु (निमित्त) कहे हैं क्योंकि उनको दर्शनमोह के क्षयादिक हैं ॥

## ज्ञानी पुरुष के अभाव में यथार्थ निर्णय कैसे हो ?

उपरोक्त कथन से एक गंभीर समस्या उत्पन्न होती है कि वर्तमान काल में ज्ञानी पुरुष का समागम तो दुर्लभ है, अतः मोक्षमार्ग का यथार्थ निर्णय कैसे किया जावे?

**समाधान** :— उपरोक्त कथन आत्मार्थी को पुरुषार्थहीन बनाने के लिये नहीं है, बल्कि यथार्थ मार्ग की प्राप्ति के लिये यथार्थ स्रोत दूढ़ने के संबन्ध में जाग्रत करने के लिये है। जिनवाणी के हर एक कथन का अभिप्राय पराधीनता के अभावात्मक स्वाधीनतापूर्वक पुरुषार्थ प्रेरक होता है। मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २३२ में कहा भी है कि "उपदेश तो ऊपर चढ़ने को दिया जाता है, तू उल्टा नीचा गिरेगा तो हम क्या करेंगे .... आदि।" उपरोक्त कथन तो प्रत्यक्ष की अपेक्षा किया गया है एवं ज्ञानी पुरुष ने अनेक प्रकार से परीक्षा करके जो मार्ग प्राप्त किया है, वह हमको सहज ही परीक्षा आदि के श्रम के बिना प्राप्त हो जाता है। लेकिन ज्ञानी के अभाव में ज्ञानी पुरुषों के माध्यम से आई हुई वर्तमान में उपलब्ध द्रव्यश्रुत (जिनवाणी, आगम) हमको उपलब्ध है, वह भी हमको मार्ग प्राप्त कराने का परम कल्याणकारी परोक्ष रूप से कारण है। प्रवचनसार ग्रन्थ की गाथा १ में तो इस ही विषय की समीक्षा करते हुये आगम को नित्यबोधक कहकर उसके उपकार की महिमा एवं आगम की उपादेयता बताई गई है।

अतः आत्मार्थी का कर्तव्य है कि ज्ञानी के समागम के अभाव में उतनी ही महिमापूर्वक एवं उग्र पुरुषार्थपूर्वक जिनवाणी के माध्यम से यथार्थमार्ग प्राप्त करने का पूर्ण पुरुषार्थ करे। प्रवचनसार ग्रन्थ में तो गाथा ८६ में आगम-अभ्यास को मोह (मिथ्यात्व) के क्षय का कारण कहा है। यथा —

जिजसत्थादो अट्टे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा  
स्त्रीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं ॥

**अर्थ** :— जिनशास्त्र द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से पदार्थों को जाननेवाले के नियम से मोहोपचय - क्षय हो जाता है।

इसलिये शास्त्र का सम्यक् प्रकार से अध्ययन करना चाहिए।

गाथा २३२ में भी कहा है कि —

एयगगदो समणो एयगं जिच्छिदस्स अत्थेसु।  
जिच्छिती आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा ॥

अर्थ:— श्रमण एकाग्रता को प्राप्त होता है, एकाग्रता पदार्थों के निश्चयवान् के होती है, निश्चय आगम द्वारा होता है, इसलिये आगम में व्यापार मुख्य है।

तथा गाथा २३४ की टीका में साधु परमेष्ठी को भी आगमचक्षु कहते हुए कहा है कि —

"अब, उस (सर्वतः चक्षुपने) की सिद्धि के लिये भगवंत श्रमण आगमचक्षु होते हैं। यद्यपि ज्ञेय और ज्ञान का पारस्परिक मिलन हो जाने से उन्हें भिन्न करना अशक्य है (अर्थात् ज्ञेय ज्ञान में ज्ञात न हो ऐसा करना अशक्य है) तथापि वे उस आगमचक्षु से स्वपर का विभाग करके, महामोह को जिनने भेद डाला है, ऐसे वर्तते हुए परमात्मा को पाकर, सतत ज्ञाननिष्ठ ही रहते हैं।"

इसप्रकार आगम-अभ्यास की अपार महिमा है। ज्ञानी के अभाव में भी आगम के अभ्यास द्वारा भी यथार्थ निर्णय प्राप्त होता है। ऐसा विश्वास जाग्रत कर।

जिसप्रकार भी संभव हो यथार्थ देशना प्राप्त कर, उसको अध्ययन आदि के द्वारा ग्रहण करना चाहिए अर्थात् बुद्धिगम्य होकर यथार्थ निर्णय होना चाहिए।

## यथार्थ देशना प्राप्त करके भी निर्णय की यथार्थता कैसे समझी जावे ?

उक्त प्रश्न के उत्तर स्वरूप निर्णय की यथार्थता अथवा अयथार्थता का मापदंड आचार्य श्री अमृतचंद्रदेव ने पंचास्तिकाय ग्रंथ की गाथा १७२ की टीका में निम्नप्रकार दिया है:-

"अलं अति विस्तरेण, स्वास्ति साक्षान्मोक्षमार्गसारत्वेन शास्त्रतात्पर्यभूताय वीतरागत्वायेति द्विविध किल तात्पर्यम्-सूत्रतात्पर्यं शास्त्रतात्पर्यं चेति। तत्र सूत्रतात्पर्यं प्रति सूत्रमेव प्रतिपादितम् ।"

अर्थ :- विस्तार से बस हो। जयवंत वर्ते वीतरागता जो कि साक्षात् मोक्षमार्ग का सार होने से शास्त्र तात्पर्यभूत है। तात्पर्य द्विविध होता है - सूत्रतात्पर्य और शास्त्रतात्पर्य। उसमें सूत्रतात्पर्य प्रत्येक सूत्र (गाथा) में प्रतिपादित किया गया है।

उपर्युक्त मापदंड के आधार पर आत्मार्थी जीव को अपने निर्णय को हमेशा अपनी ही बुद्धिरूपी कसौटी पर हमेशा परखते रहना चाहिए कि मेरा निर्णय वीतरागता का उत्पादक है अथवा नहीं। इसका दृष्टान्त है — भगवान अरहंत का आत्मा। भगवान अरहंत का आत्मा भी पूर्वदशा में राग-द्वेष आदि के सद्भाव में आकुलता के वेदन के कारण निरन्तर दुःखी था। उनकी आत्मा ने भी यथार्थ देशना प्राप्त कर अपने ज्ञायकस्वभावी अकर्ता आत्मा का यथार्थ निर्णय कर, उस उपदेश के अनुसार अपने आत्मा में तद्रूप परिणमन कर, उसके फलस्वरूप आत्मा के उपयोग में

ज्ञेयों के प्रति अत्यन्त उपेक्षा जाग्रत कर अपने उपयोग को अपने आप में लीन कर दिया। फलस्वरूप अन्दर उठनेवाले रागादिक का अभाव होकर परम वीतरागता प्राप्त की। उसी के फलस्वरूप उनका ज्ञान भी पूर्ण हो गया, अतः परम सुख का निरन्तर भोग कर रहे हैं। उपरोक्त दृष्टान्त के आधार पर विश्वास जाग्रत होता है कि मार्ग तो वही सच्चा है, जिसके अनुसरण करने से रागादिक का अभाव होकर वीतरागता की प्राप्ति हो। हमारा प्रयोजन भी तो आकुलता रूप दुःख का अभाव करके निराकुलता रूपी सुख उत्पन्न करना है। अतः जो उपदेश रागादि के अभाव करने का उपाय बतावे, एकमात्र वह उपदेश ही सत्यार्थ हो सकता है। इसी आधार पर यथार्थ उपदेश मिलने पर भी हमारे निर्णय में यह प्रमाणित हो कि इस उपदेश को इस प्रकार समझकर ग्रहण करने से रागादि की हानि और वीतरागता की उत्पत्ति होगी तो समझ लेना चाहिए कि मेरा निर्णय यथार्थ है तथा निःशंक होकर तदनुसार उसकी साधना करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

संक्षेप में कहो तो सारी द्वादशांग वाणी का तात्पर्य एकमात्र वीतरागता है, सारी द्वादशांग वाणी एकमात्र वीतरागता का ही प्रतिपादन करती है, अतः किसी भी अनुयोग के किसी भी ग्रन्थ का अध्ययन किया जावे, अध्ययनकर्ता को उससे एकमात्र वीतरागता का ही पोषण होना चाहिए। यही एकमात्र अपने अध्ययन को एवं निर्णय को परखने के लिए उत्कृष्ट कसौटी है। आत्मार्षी को सदैव उस कसौटी को बुद्धि में जाग्रत रखकर आगम का अध्ययन करना चाहिए।

## निर्णय करना आवश्यक क्यों ?

अध्ययन के पश्चात् भी निर्णय करने पर इतना बल क्यों दिया गया है ? ऐसी शंका का समाधान भी आवश्यक है। लौकिक में भी यह स्पष्ट है कि किसी भी अध्ययनरत विद्यार्थी को जो विधि उसने अध्ययन के द्वारा सीखी है, उसके संबंध में ऐसा निर्णय हुए बिना कि " यह विधि ही यथार्थ है, इस ही विधि का परीक्षा के समय उपयोग करके मैं उत्तीर्णता प्राप्त करूँगा " ऐसी विधि के बिना वह विद्यार्थी उस विधि का उपयोग निःशंकापूर्वक नहीं कर सकेगा फलस्वरूप उत्तीर्णता भी प्राप्त नहीं कर सकेगा। इसीप्रकार मोक्षमार्ग का उपदेश प्राप्त कर भी अगर वह दृढ़ता के साथ इस निर्णय पर नहीं पहुँचेगा कि यही मार्ग सत्यार्थ है, तबतक वह उस मार्ग का निःशंक होकर अनुसरण नहीं कर सकेगा फलस्वरूप वीतरागता का उत्पादन नहीं कर सकेगा। अतः दृढ़तम निर्णय होना आवश्यक है। निम्नप्रकार विविध ग्रन्थों में भी विविध आचार्यों ने निर्णय को अत्यन्त आवश्यक बताया है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ के नौवें अधिकार में पेज ३११ पर निम्न शब्दों में कहा है कि -

"तत्त्वनिर्णय करने में उपयोग न लगावें, वह तो इसी का दोष है, तथा पुरुषार्थ से तत्त्वनिर्णय में उपयोग लगावें तब स्वयमेव ही मोह का अभाव होने पर सम्यक्त्वादि रूप मोक्ष के उपाय का पुरुषार्थ बनता है। इसलिये मुख्यता से तो तत्त्वनिर्णय में उपयोग लगाने का पुरुषार्थ करना।"

पृष्ठ ३१२ में भी कहा है—

" तथा इस अवसर में जो जीव पुरुषार्थ से तत्त्वनिर्णय करने में उपयोग लगाने का अभ्यास रखे, उनके विशुद्धता बढ़ेगी, उससे कर्मों की शक्ति हीन होगी, कुछ काल में अपने-आप दर्शनमोह का उपशम होगा, तब तत्त्वों की यथावत् प्रतीति आवेगी, सो इसका तो कर्त्तव्य तत्त्वनिर्णय का अभ्यास ही है।"

समयसार गाथा १४४ की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है कि -

" यतः प्रथमतः श्रुतज्ञानावष्टंभेन ज्ञानस्वभावमात्मानं निश्चित्य।"

अर्थ — प्रथम श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभाव आत्मा का निश्चय करके.... आदि-आदि।

इसीप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द देव ने प्रवचनसार की गाथा ८६ में कहा है कि -

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहि बुज्झदो णियमा।

खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं ॥

अर्थ:- जिनशास्त्र द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से पदार्थों को जाननेवाले के नियम से मोहसमूह क्षय हो जाता है। इसलिये शास्त्र का सम्यक प्रकार से अध्ययन करना चाहिए।

इसी गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है कि -

"जिसने प्रथम भूमिका में गमन किया है, ऐसे जीव को जो सर्वज्ञोपज्ञ होने से सर्वप्रकार से अबाधित है, ऐसे शब्दप्रमाण (द्रव्यश्रुतप्रमाण) को प्राप्त करके... तत्त्वतः अवश्य ही क्षय को प्राप्त होता है।"

उपर्युक्त आगम प्रमाणों से भी यह निश्चित होता है कि सर्वप्रथम उपदिष्ट तत्त्व का धारण एवं विचार होकर दृढ़तम निर्णय होना चाहिए, उसी से सम्यक श्रद्धा का जन्म होगा।

## तत्त्वनिर्णय करने की विधि

अध्ययन के बाद चिन्तन-मनन के द्वारा निर्णय करना आवश्यक होते हुए भी निर्णय करने की विधि भी जानना आवश्यक है। अतः शास्त्रोक्त विधि को समझना अत्यन्त आवश्यक है।

उपरोक्त दृष्टिकोण से अंतरंगरुचि पूर्वक समझने का पुरुषार्थ करनेवाले आत्मार्थी जीव को निर्णय करने की विधि (पद्धति) भी आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ के पृष्ठ २५७ पर निम्नप्रकार बताई है—

" वहाँ अपने प्रयोजनभूत मोक्षमार्ग के, देव-गुरू-धर्मादिक के, जीवादि तत्त्वों के तथा निज-पर की ओर अपने को अहितकारी-हितकारी भावों के... इत्यादि के उपदेश से सावधान होकर ऐसा विचार किया कि अहो! मुझे तो इन बातों की खबर ही नहीं, मैं भ्रम से भूलकर प्राप्त पर्याय में ही तन्मय हुआ, परन्तु इस पर्याय की तो थोड़े ही काल की स्थिति है; तथा यहाँ मुझे सर्व निमित्त मिले हैं, इसलिये मुझे इन बातों को बराबर समझना चाहिए, क्योंकि इनमें तो मेरा ही प्रयोजन भासित होता है। ऐसा विचार कर जो उपदेश सुना उसके निर्धार (निर्णय) करने का उद्यम किया।"

" वहाँ नाम सीख लेना और लक्षण जान लेना - यह दोनों तो उपदेश के अनुसार होते हैं — जैसा उपदेश दिया हो वैसा याद कर लेना तथा परीक्षा करने



में अपना विवेक चाहिये, सो विवेकपूर्वक एकान्त में अपने उपयोग में विचार करे कि जैसा उपदेश दिया वैसा ही है या अन्यथा है ? वहाँ अनुमानादि प्रमाण से बराबर समझे। अथवा उपदेश तो ऐसा है ऐसा न माने तो ऐसा होगा; सो इनमें प्रबल युक्ति कौन है और निर्बल युक्ति कौन है ? जो प्रबल भासित हो उसे सत्य जाने तथा यदि उपदेश से अन्यथा सत्य भासित हो, अथवा उसमें सन्देह रहे, निर्धार न हो; तो जो विशेषज्ञ हों, उनसे पूछे, और वे उत्तर दें, उसका विचार करे। इसी प्रकार जबतक निर्धार न हो तबतक प्रश्न-उत्तर करे, अथवा समानबुद्धि के धारक हो उनसे अपना विचार जैसा हुआ हो वैसा कहे और प्रश्न-उत्तर द्वारा परस्पर चर्चा करे; तथा जो प्रश्नोत्तर में निरूपण हुआ हो उसका एकान्त में विचार करे। इसीप्रकार जबतक अपने अंतरंग में जैसा उपदेश दिया था, वैसा ही निर्णय होकर भावभासित न हो तबतक इसीप्रकार उद्यम किया करे।"

" ऐसा उद्यम करने पर जैसा जिनदेव का उपदेश है वैसा ही सत्य है, मुझे भी इसीप्रकार भासित होता है—ऐसा निर्णय होता है।"

आगे महत्वपूर्ण बात और लिखते हैं कि -

"जिनवचन और अपनी परीक्षा में समानता हो, तब तो जाने कि परीक्षा सत्य हुई। जबतक ऐसा न हो तबतक जैसे कोई हिसाब करता है और उसकी विधि न मिले तबतक अपनी चूक को ढूँढ़ता हूँ, उसीप्रकार यह अपनी परीक्षा में विचार किया करे।"

इसप्रकार पंडितप्रवर टोडरमलजी साहब ने तत्त्वनिर्णय करने की विधि (पद्धति) बहुत भलीप्रकार से स्पष्ट करके

समझाई है फिर भी जिज्ञासु पात्र जीव को विशेष स्पष्टीकरण के लिए सम्यक्त्व सन्मुख मिथ्यादृष्टि का प्रकरण पूरा अध्ययन करना चाहिए।

## अध्ययन पांच प्रकार से

मोक्षमार्ग प्रकाशक के अतिरिक्त बृहद् द्रव्यसंग्रह की गाथा २ की टीका में आचार्य श्री ब्रह्मदेव सुरि ने शास्त्रों के अर्थ तथा उपरोक्त विषय को समझने के लिये निम्नप्रकार पद्धति भी अपनाने का निर्देश दिया है :

" एवं शब्दनयमतागमभावार्थो यथा सम्भवं व्याख्यानकाले सर्वत्र ज्ञातव्यः।"

अर्थ :- इसप्रकार शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ, और भावार्थ - यथासंभव व्याख्यान काल में सर्वत्र जानना चाहिए।"

उपर्युक्त आधार से यह आवश्यक है कि अध्ययनकर्ता को उपरोक्त पाँचों प्रकार से हर विषय को समझना चाहिये, आचार्यश्री ने "सर्वत्र" शब्द लगाकर इस पद्धति की विशालता बहुत विस्तृत कर दी है।

आचार्य महाराज का संकेत है कि शास्त्र के अध्ययन के समय हर एक गाथा, श्लोक अथवा विषय का यथार्थ अभिप्राय समझ में आ सकेगा। यथा -

शब्दार्थ :- जबतक उस भाषा का अवश्यक ज्ञान नहीं हो तो उन शब्दों का अर्थ नहीं समझ सकता और शब्दार्थ समझे बिना भाव समझ में आ ही नहीं सकता।

नयार्थ :- प्रस्तुत विषय किस नय की मुख्यता से किया गया है- यह समझना आवश्यक है। जैसे निश्चयनय की

मुख्यता से किये गये कथन को व्यवहारनय की प्रधानतावाला मान लेवे अथवा व्यवहारनय की प्रधानता से किये गये कथन को निश्चयनय की प्रधानतावाला मान लेवे, तो अनर्थ हो जावेगा। उल्टा (विपरीत) हो जावेगा, क्योंकि दोनों नयों के विषय परस्पर विरुद्ध होते हैं, इसलिये कथन का यथार्थ अभिप्राय समझने के लिये आवश्यक नयज्ञान का प्रयोग भी अत्यन्त आवश्यक है।

**मतार्थ :-** मतार्थ से अभिप्राय है कि प्रस्तुत विषय किसप्रकार की मान्यतावाले की भूल निकालने की दृष्टि से किया गया है। वह पहिचानना उक्त कथन का मतार्थ है। हर एक कथन किसी मिथ्या-मान्यता को ठीक दिशा में लाने की दृष्टि से ही किया जाता है। जैसे जिसकी पराधीन, संयोगाधीन दृष्टि हो, वह हर कार्य का संपादन संयोग से हुआ मानता है, तो उसकी उस मान्यता को मिटाकर स्वभावदृष्टि, स्वाधीनदृष्टि कराने के लिए, सभी युक्ति, हेतु दृष्टान्त, आगम उस भूल को निकालने के लिए प्रस्तुत किया जावेगा — विकार तो तेरी पर्याय में हुआ है, उसका उत्पादक भी तू ही है, इसलिए अभाव भी तू ही कर सकेगा आदि-आदि उपदेश से स्वाधीनदृष्टि उत्पन्न करा कर विकार के अभाव करने की ओर अग्रसर कराया जाता है, लेकिन जो व्यक्ति राग को परकृत मानकर, अभाव होना अशक्य मानकर अकर्मण्य (पुरुषार्थहीन) बन रहा हो, उसका परलक्ष्य करनेवाला तू स्वयं ही है, पर नहीं, स्वभाव का ज्ञान कराकर, विकार परलक्ष्य से ही उत्पन्न होता है, तथा विकार तेरा स्वभाव नहीं है, अतः स्वाधीनता पूर्वक परलक्ष्य छोड़ने का उपदेश दिया जाता है। अतः ऐसे जीवों को उस प्रकार से समझाना पड़ता है, जिससे उन जीवों की उस प्रकार की मिथ्या मान्यता

निकलकर सत्यार्थ मार्ग ग्रहण कर ले। इस प्रकार हर एक विषय के अध्ययन के समय उसका मतार्थ जानना अत्यन्त आवश्यक है, कि यह कथन किस प्रकार की मान्यता को मिटाने के लिये किया गया है। अन्यथा उस विषय का यथार्थ अभिप्राय समझ में नहीं आ सकता।

**आगमार्थ :-** उपर्युक्त शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ समझकर जो भी भाव समझ में आया हो, वह आगम के अनुसार है अथवा नहीं। क्योंकि मात्र युक्ति, हेतु आदि के माध्यम से किया गया कोई भी निर्णय जब तक आगमानुसार नहीं हो, यथार्थता को प्राप्त नहीं हो सकता। अतः आत्मार्थ को आवश्यक विषय का-आगम का अभ्यास भी होना चाहिए, क्योंकि निर्णय की यथार्थता की पहिचान करानेवाली कसौटी तो वीतरागता एवं सर्वज्ञोपज्ञ होने से आगम ही है। अतः अपने निर्णय के प्रति निःशंकता, प्राप्त करने के लिए निर्णय को आगमार्थ के द्वारा परख लेना चाहिए।

**भावार्थ :-** उक्त चारों कसौटियों से पार होने के बाद में जो निष्कर्ष प्राप्त हुआ हो, वही उस कथन का भावार्थ अर्थात् यथार्थ भाव है, ऐसा निःशंक होकर समझना चाहिए।

इसप्रकार उपर्युक्त बताई गई पद्धतियों के द्वारा, आत्मकल्याण के लिए उपदेश के अभिप्राय को समझ कर निर्णय में निःशंकता प्राप्त करनी चाहिए।

## निर्णय करनेवाले की अन्तर्भूमिका

उपर्युक्त कथन से प्रश्न उपस्थित होता है निर्णय करने के सन्मुख जीव की अन्तर्भूमिका कैसी होती है ? इस

प्रश्न का समाधान है कि जिसके अन्तर में यह विचार आया कि "मैं भ्रम से भूलकर प्राप्त पर्याय ही में तन्मय हुआ, परन्तु इस पर्याय की तो थोड़े ही काल की स्थिति है।" ऐसे विचारवाले जीव की निर्णय करने में उग्र तत्परता है, वह जीव अपने जीवन का एक क्षण भी व्यर्थ खोना नहीं चाहता। ऐसा जीव ही निर्णय करके प्रायोग्य एवं करण लब्धि पार करता हुआ निश्चित रूप से सम्यक्त्व प्राप्त कर लेगा। पद्मनदिपंचविशतिका में कहा भी है—

तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्ताऽपि हि श्रुता।  
निश्चितं स भवेद् भव्यो भावि निर्वाणभाजनं॥

अर्थ :- जिस ने आत्मा की वार्ता भी प्रीतिचित्त पूर्वक सुनी है, वह निश्चितरूप से भव्य है एवं भाविनिर्वाण का पात्र है।

परमात्मप्रकाश ग्रन्थ की गाथा ८-९-१० में भी शिष्य प्रभाकर भट्ट ने आचार्य श्री योगीन्द्र देव से इसी आशय की प्रार्थना की है कि "भगवन् ! मैं तो संसारभ्रमण करते-करते त्रस्त हो चुका हूँ, मुझे सब कुछ मिला, लेकिन एकमात्र शुद्धात्मतत्त्व की प्राप्ति नहीं हुई, अतः मुझे मेरे शुद्धात्मतत्त्व की प्राप्ति कैसे हो? वह उपाय बताइये, मुझे अब एक भव भी धारण नहीं करना है," आदि-आदि।

इसप्रकार की भावनावाला जीव जब निर्णय करने के सन्मुख होता है तो उससमय उसकी अन्तर्भूमिका अत्यन्त उग्र होती है, ऐसी भावनावाले जीव की रुचि अब संसार, शरीर, भोगों से हटकर एकमात्र अपना आत्महित अर्थात् मोक्षमार्ग प्राप्त करने के प्रति तीव्रता के साथ अग्रसर होती है।

श्रीमद् राजचंद्रजी ने भी कहा है—

"काम एक आत्मार्थनो, बीजों नहिं मनरोग" आदि—आदि।  
तथा

" कषायनी उपशांतता मात्र मोक्ष अभिलाषा।  
भवे खेद प्राणीदया त्यां आत्मार्थ निवास॥"

" त्याग विराग न चित्तमा, थाय न तेने ज्ञान।  
अटके त्याग विरागमां, तो भूले निज भान॥"

उपर्युक्त भावना जाग्रत होने पर वह जीव बाहर में सबकुछ जैसा का तैसा बना रहते हुए भी अन्तर की रुचि का वेग पलट लेता है, अबतक जिनके रक्षण एवं वृद्धि आदि के प्रति उत्साह वर्तता था, वह ढीला पड़ जाता है, अपने आत्मा के कल्याण का उपाय जो निज आत्मतत्त्व अनुसंधान आदि में अपनी वृत्ति को लगा देता है। अपने आत्मा में ही अपनापन स्थापन करते हुए पर, जिनमें अबतक अपनापन माने हुए था, उनमें परपना किसप्रकार निर्णय में आवे, ऐसा निर्णय प्राप्त करने के लिये तीव्रतम रुचि के साथ - पूर्ण पुरुषार्थ के साथ प्रयत्नशील हो जाता है।

## निर्णय का विषय क्या हो?

उपर्युक्त भावनावाले जीव की पात्रता इतनी उग्र हो गई होती है कि वह जीव तत्त्वोपदेश को ग्रहण करने के लिये इन्द्रियविषयों की ओर बाहर भटकती हुई अपनी बुद्धि को सब ओर से समेट कर, एकाग्रता एवं आतुरता के साथ तत्त्वोपदेश को विनयपूर्वक दत्तचित्त होकर ग्रहण करता है, धारण करता है एवं उस पर गंभीरता से विचार करने में प्रयत्नशील होता है।

उपर्युक्त भावना सहित निर्णय करने के सन्मुख हुआ जीव, उपदेश को सुनकर उसमें सर्वप्रथम प्रयोजन की सिद्धि के लिये उपयोगी एवं तत्काल उपयोगी नहीं होनेवाले कथनों को छांटता है। जैसे उपदेश में तो चारों अनुयोगों में कथन तो अनेक अपेक्षाओं को लेकर विस्तार से आते हैं। उनके संबन्ध में वह विचारता है कि मेरी आयु तो अल्प है, बुद्धि भी सीमित है और उपदेश के प्रकार तो बहुत हैं। सबका धारण करना तो संभव नहीं है। अतः मुझे इन सबमें से मेरे प्रयोजन की सिद्धि के लिये विशेष उपयोगी हों उनको पहले धारण करना चाहिए। पद्मनन्दी पंचविंशतिका के श्लोक १/१२८ में भी कहा है कि—

" वर्तमान काल में मनुष्यों की आयु अल्प, बुद्धि अतिशय मंद, इस कारण समस्त श्रुतपाठ की शक्ति रही नहीं, अतः उनको उतने ही श्रुत का प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करना चाहिये, जो मोक्ष का बीजभूत होकर आत्महित करनेवाला हो। "

श्री कविवर भूधरदासजी ने भी कहा है कि—

" जीवन अल्प आयु बुद्धि बलहीन, तामें आगम अगाधसिंधु कैसे ताँहि डाकि है ?"

आत्मार्थी की उपर्युक्त समस्या को सुलझाने के लिए पं. टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक में निम्नप्रकार स्पष्टीकरण किया है।

पृष्ठ ६ पर आत्मार्थी जीव का प्रयोजन क्या है? यह स्पष्ट किया है कि—

" जिसके द्वारा सुख उत्पन्न हो तथा दुःख का विनाश हो, उस कार्य का नाम प्रयोजन है; और जिसके द्वारा

उस प्रयोजन की सिद्धि हो, वही अपना इष्ट है। सो हमारे तो इस अवसर में वीतराग-विज्ञान का होना वही प्रयोजन है।”

इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने भी पंचास्तिकायसंग्रह की गाथा १७२ की टीका में कहा है कि—

” विस्तार से बस हो! जयवंत वर्तो वीतरागता, जो कि साक्षात् मोक्षमार्ग का सार होने से शास्त्रतात्पर्यभूत है।”

इसप्रकार आत्मार्थी जीव उपर्युक्त एकमात्र वीतरागता की सिद्धि को ही अपना प्रयोजन मानकर समस्त शास्त्रों के अध्ययन में अथवा सुनने में - विचारने में इस ही एक उद्देश्य को मुख्य रखकर धारण करता है एवं विचार करता है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २५७ पर समस्त द्वादशांग में भी हमको प्रयोजनभूत विषय क्या है? इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार किया है कि -

”वहाँ अपने प्रयोजनभूत (१) मोक्षमार्ग के, (२) देव-गुरु-धर्मादिक के (३) जीवादि तत्त्वों के, तथा (४) निज-पर के और (५) अपने को अहितकारी-हितकारी भावों के इत्यादि के उपदेश से सावधान होकर ऐसा विचार किया।” आदि-आदि

इस प्रकार पंडितजी साहब ने हमारी गंभीर समस्या का समाधान कितने सुन्दररूप से प्रस्तुत किया है कि सारे द्वादशांग का पठन कर, श्रवण कर, अध्ययन कर, लेकिन उन सबमें से तुझे अपने प्रयोजन की सिद्धि अर्थात् सुखी



होने का मार्ग प्राप्त करने के लिए समझने योग्य - निर्णय करने योग्य जो भी है वह मात्र उपर्युक्त विषय ही है; उपर्युक्त विषयो को ही चाहे अनेक ग्रन्थ पढ़कर अथवा संक्षेप में विचार के द्वारा ही निर्णय कर ले, करने योग्य तो मात्र यही उपर्युक्त विषय है।

इस ही विषय को और स्पष्ट करते हुए पंडितप्रवर पृष्ठ २५८ में कहते हैं— प्रश्न- "उपदेश तो अनेक प्रकार के हैं, किस-किस की परीक्षा करें?"

समाधान— "उपदेश में (१) कोई उपादेय, (२) कोई हेय तथा (३) कोई ज्ञेय तत्त्वों का निरूपण किया जाता है। वहाँ (१) उपादेय (२) हेय तत्त्वों की तो परीक्षा कर लेना, क्योंकि इनमें अन्यथापना होने से अपना बुरा होता है। उपादेय को हेय मान ले तो बुरा होगा, हेय को उपादेय मान ले तो बुरा होगा।"

और भी कहा है—

"इसलिये जैनशास्त्रों में जहाँ तत्त्वादिक का निरूपण किया; वहाँ तो हेतु, युक्ति आदि जिसप्रकार उसे अनुमानादि से प्रतीत आये उसीप्रकार कथन किया है। तथा त्रिलोक, गुणस्थान, मार्गणा, पुराणादि के कथन आज्ञानुसार किये हैं। इसलिये हेयोपादेय तत्त्वों की परीक्षा करना योग्य है।"

"वहाँ जीवादिक द्रव्यों व तत्त्वों को तथा स्वपर को पहिचानना तथा त्यागने योग्य मिथ्यात्वरगादिक और ग्रहण करने योग्य सम्यग्दर्शनादिक का स्वरूप पहिचानना तथा निमित्त-नैमित्तिकादिक जैसे है, वैसे पहिचानना। इत्यादि मोक्षमार्ग में जिनके जानने से प्रवृत्ति होती है, उन्हें अवश्य जानना। सो इनकी तो परीक्षा करना। सामान्य रूप से किसी हेतु युक्ति द्वारा इनको जानना व प्रमाण नय द्वारा

जानना, व निर्देश-स्वामित्वादि से और सत्-संख्यादि से इनके विशेष जानना।"

उपर्युक्त विषय पर गंभीरता से विचार करें तो सारा द्वादशांग समस्त जिनवाणी उपर्युक्त तीन भागों में आसानी से बांटी जा सकती है। अगर विचार करें तो समस्त जिनवाणी में, ऊपर कहे गये तत्त्वों में से आत्मा के निर्णय करने के लिए तो अपने अस्तित्व के साथ-साथ प्रयोजनभूत तत्त्व तो एकमात्र हेय-उपादेय विषय ही है, बाकी सभी कुछ मात्रज्ञेय तत्त्व में ही गर्भित हैं। इसलिये उपर्युक्त कथन के अनुसार हमको तो सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये, अभ्यास करने के लिये समझने के लिये, निर्णय करने के लिए समस्त द्वादशांग में से मात्र स्व अस्तित्व के साथ-साथ मात्र हेय उपादेय तत्त्व ही प्रयोजनभूत रह जाते हैं।

ज्ञेयतत्त्वों के संबंध में भी पंडितजी पृष्ठ २५९ में विशेष खुलासा करते हैं—

"तथा जो ज्ञेयतत्त्व हैं, उनकी परीक्षा हो सके तो परीक्षा करें; नहीं हो सके तो यह अनुमान करें कि जो हेय उपादेय तत्त्व ही अन्यथा नहीं कहे, तो ज्ञेयतत्त्वों को अन्यथा किस लिये कहेंगे?— इसलिये ज्ञेयतत्त्वों का स्वरूप परीक्षा द्वारा भी अथवा आज्ञा से जाने, यदि उनका यथार्थ भाव भासित न हो तो भी दोष नहीं है।

आगे पृष्ठ २६० पर और भी स्पष्ट करते हैं कि - जैसे बुद्धि हो -जैसा निमित्त बने, उसीप्रकार इनको सामान्य-विशेष रूप से पहिचानना तथा इस जानने में उपकारी गुणस्थान मार्गणादिक व पुराणादिक व व्रतादिक - क्रियादिक का भी जानना योग्य है। यहाँ जिसकी परीक्षा हो

सके, उनकी परीक्षा करना, न हो सके उनकी आज्ञानुसार जानकारी करना।”

उपर्युक्त कथन पर गंभीरता से विचार किया जावे तो टोडरमल जी साहब ने गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि करणानुयोग को, एवं पुराणदिक प्रथमानुयोग को तथा व्रतादिक-क्रियादिक चरणानुयोग को अर्थात् उपर्युक्त तीनों अनुयोगों के संबंध में सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के पूर्व निर्णय करने के लिये "भी" शब्द का प्रयोग किया है। जिसका तात्पर्य निकलता है कि ये तीनों अनुयोगों के कथन सम्यग्दर्शन प्राप्त करने में मुख्य सहायक नहीं होंगे, मुख्य उपयोगी तो इन तीनों अनुयोगों के अतिरिक्त बचा हुआ स्व के अस्तित्व के साथ साथ हेय- उपादेय का ज्ञान करानेवाला एक द्रव्यानुयोग ही मुख्य उपयोगी रहता है। सारांश तीनों अनुयोग गौण रूप से सहयोगी बताये गये हैं। द्रव्यानुयोग में भी मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २५८ पर ऊपर बताये गये सारभूत विषय तो मात्र वही है। अतः आत्मार्थी जीव को आगम के अध्ययन अर्थात् तत्त्वनिर्णय के लिए भी चारों अनुयोगों में अपनी भटकती हुई बुद्धि को भी सर्वप्रथम सब ओर से समेट कर द्रव्यानुयोग में भी मात्र उपर्युक्त प्रयोजनभूत विषयों के निर्णय पर ही एकाग्र होकर लगा देनी चाहिए।

मोक्षमार्ग प्रकाशक के पृष्ठ २३५ पर तो और भी विशेष जोर देकर टोडरमलजी साहब ने कहा है कि :—

यदि बुद्धि थोड़ी हो तो आत्महित के साधक सुगम शास्त्रों का ही अभ्यास करे, ऐसा नहीं करना कि व्याकरण आदि का अभ्यास करते करते आयु पूर्ण हो जावे और तत्त्वज्ञान (प्रयोजनभूत तत्त्व) की प्राप्ति न बने।

उपर्युक्त सारे कथन का तात्पर्य मात्र इतना ही है कि आत्मार्थी जीव को सांसारिक कार्यों में भटकती बुद्धि को समेट कर अपने आत्मा को समझने के लिये आगमाभ्यास में लगाना चाहिये तथा आगमाभ्यास में भी उपर्युक्त कथन के अनुसार आगम के अन्य विषयों को गौण कर प्रयोजनभूत विषय के समझने में ही बुद्धि को पूर्णरूप से समर्पित कर देना चाहिये।

अतः यहां सहज ही जिज्ञासा जाग्रत होती है कि चारों अनुयोगों की कथन-पद्धति क्या है?

उसका खुलासा इस प्रकार है—

## चारों अनुयोग एवं उनका प्रयोजन

समस्त जिनशासन चार अनुयोगों में विभक्त है— (१) प्रथमानुयोग, (२) चरणानुयोग, (३) करणानुयोग, (४) द्रव्यानुयोग। हर एक अनुयोग की कथन पद्धति एवं अभिप्राय क्या है? इस सम्बन्ध में पं. टोडरमल जी साहब ने मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ के आठवें अध्याय में विस्तार से वर्णन किया है। अभ्यासी को उस अध्याय का अवश्यमेव अध्ययन करना चाहिये। इसी अध्याय के कतिपय अंश यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं। यह प्रकरण पृष्ठ २६८ से प्रारम्भ होकर पृष्ठ ३०४ पर समाप्त होता है।

## प्रयोजन

(१) पृष्ठ २६८ "प्रथमानुयोग में तो संसार की विचित्रता, पुण्य-पाप का फल, महन्त पुरुषों की प्रवृत्ति इत्यादि निरूपण से जीवों को धर्म में लगाया है, जो जीव तुच्छबुद्धि हों वे भी उससे धर्म सन्मुख होते हैं।"

(२) पृष्ठ २६९ "करणानुयोग में जीवों के व कर्मों के विशेष तथा त्रिलोकादिक की रचना निरूपित करके जीवों को धर्म में लगाया है।"

"करण अर्थात् गणित कार्य के कारणरूप सूत्र, उनका जिसमें 'अनुयोग' अधिकार हो वह करणानुयोग है।"

(३) पृष्ठ २७० "चरणानुयोग में नानाप्रकार धर्म के साधन निरूपित करके जीवों को धर्म में लगाते है।"

पृष्ठ २६९ "जो जीव तत्त्वज्ञानी होकर चरणानुयोग का अभ्यास करते हैं, उन्हें यह सर्व आचरण अपने वीतराग भाव के अनुसार भासित होते हैं, एकदेश व सर्वदेश वीतरागता होने पर ऐसी श्रावकदशा-मुनिदशा होती है, क्योंकि इनके निमित्त-नेमित्तिकपना पाया जाता है, ऐसा जानकर श्रावक-मुनि धर्म को विशेष पहिचानकर जैसा अपना वीतराग भाव हुआ हो वैसा अपने योग्य धर्म को साधते हैं। वहाँ जितने अंश में वीतरागता होती है, उसे कार्यकारी जानते हैं, जितने अंश में राग रहता है, उसे हेय जानते हैं, सम्पूर्ण वीतरागता को परम धर्म मानते हैं।"

(४) पृष्ठ २७१ "द्रव्यानुयोग में द्रव्यों का व तत्त्वों का निरूपण करके जीवों को धर्म में लगाते है। जो जीव जीवादिक द्रव्यों को व तत्त्वों को नहीं पहिचानते, आपको-परको भिन्न नहीं जानते, उन्हें हेतुदृष्टान्त-युक्ति द्वारा व प्रमाण नयादि द्वारा उनका स्वरूप इसप्रकार दिखाया है, जिससे उनको प्रतीति हो जावे। उसके अभ्यास से अनादि अज्ञानता दूर होती है।" पृष्ठ २८७ में भी कहा है कि "द्रव्यानुयोग में न्यायशास्त्रों की पद्धति मुख्य है, क्योंकि वहाँ निर्णय करने का प्रयोजन है, और न्यायशास्त्रों में निर्णय करने का मार्ग दिखाया है।"

उपर्युक्त समस्त कथन से स्पष्टरूप से समझ में आता है कि यथार्थ निर्णय करने के लिये (प्रतीति करने के लिये) तो सर्वप्रथम द्रव्यानुयोग का अभ्यास ही कार्यकारी है।

द्रव्यानुयोग के अभ्यास द्वारा अपनी परिणति में जैसे-जैसे वीतरागता बढ़ती जाती है, उसी के अनुसार अंतरंग व बाह्य आचरण भी कैसा होना चाहिये? इसकी जानकारी एवं यथायोग्य आचरण के लिये चरणानुयोग का अभ्यास भी आवश्यक है। तथा अन्य दोनों अनुयोग प्रथमानुयोग, करणानुयोग भी अपने उपयोग को अशुभ में जाने से रोकने के लिये, उपयोग को आत्मा के सम्बन्ध में रमाने के लिये तथा श्रद्धान को दृढ़ करने के लिये यथासमय उपयोगी हैं।

## पद्धति

प्रथमानुयोग- मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ २७१ "प्रथमानुयोग में जो मूल कथाएं हैं; वे तो जैसी हैं वैसी ही निरूपित करते हैं। तथा उनमें प्रसंगोपात्त व्याख्यान होता है, वह कोई तो ज्यो का त्यो होता है; कोई के विचारानुसार होता है, परन्तु प्रयोजन अन्यथा नहीं होता।

पृष्ठ २७४ "कितने ही पुरुषों ने पुत्रादिक की प्राप्ति के अर्थ अथवा रोग कष्टादि दूर करने के अर्थ चैत्यालय पूजनादि कार्य किये, स्तोत्रादि किये, नमस्कार मन्त्र-स्मरण किया, परन्तु ऐसा करने से तो निःकाक्षित गुण का अभाव होता है, निदान बन्ध नामक आर्तध्यान होता है, पाप ही का प्रयोजन अन्तरंग में है, इसलिये पाप ही का बन्ध होता है; परन्तु मोहित होकर भी जो बहुत पापबन्ध का कारण कुदेवादि का तो पूजनादि नहीं किया, इतना उसका गुणग्रहण करके उसकी प्रशंसा करते हैं। इस छल से औरो

गुणग्रहण करके उसकी प्रशंसा करते हैं। इस छल से औरों को लौकिक कार्यों के अर्थ धर्मसाधन करना युक्त नहीं है। इसी प्रकार अन्यत्र जानना।"

**करणानुयोग—** पृष्ठ २७५ "जीव पुद्गलादिक यद्यपि भिन्न-भिन्न हैं, तथापि सम्बन्धादिक द्वारा अनेक द्रव्य से उत्पन्न गति, जाति आदि भेदों को एक जीव के निरूपित करते हैं। इत्यादि व्याख्यान व्यवहारनय की प्रधानता सहित जानना, क्योंकि व्यवहार के बिना विशेष नहीं जान सकता। तथा कहीं निश्चय वर्णन भी पाया जाता है। जैसे—जीवादिक द्रव्यों का प्रमाण निरूपण किया, वहाँ भिन्न-भिन्न इतने ही द्रव्य हैं। वह यथासम्भव जान लेना।

"पृष्ठ २७५ "तथा करणानुयोग में जो कथन है, वे कितने ही तो छद्मस्थ के प्रत्यक्ष अनुमानादि—गोचर होते हैं तथा जो न हो उन्हें आज्ञाप्रमाण द्वारा मानना।"

पृष्ठ २७७ "यहाँ कोई करणानुयोग के अनुसार आप उद्यम करे तो हो नहीं सकता, करणानुयोग में तो यथार्थ पदार्थ बतलाने का मुख्य प्रयोजन है, आचरण कराने का मुख्यता नहीं है।

"जैसे आप कर्मों के उपशमादि करना चाहें तो कैसे होंगे? आप तो तत्त्वादिक का निश्चय करने का उद्यम करे उससे स्वयमेव ही उपशमादि सम्पक्त्व होते हैं।"

**चरणानुयोग—** मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २७७ "चरणानुयोग में जिसप्रकार जीवों के अपनी बृद्धिगोचर धर्म का आचरण हो वैसा उपदेश दिया है, वहाँ धर्म तो निश्चयरूप मोक्षमार्ग है वही है, उसके साधनादिक उपचार से धर्म है। इसी व्यवहारनय की प्रधानता से नाना प्रकार उपचार धर्म भेदादिकों का इसमें निरूपण किया जाता है।"

पृष्ठ 278 "वह उपदेश दो प्रकार से दिया जाता है एक तो व्यवहार ही का उपदेश देते हैं। एक निश्चय सहित व्यवहार का उपदेश देते हैं। वहाँ जिन जीवों के निश्चय का ज्ञान नहीं है व उपदेश देने पर भी नहीं होता दिखायी देता, ऐसे मिथ्यादृष्टिजीव कुछ धर्म सन्मुख होने पर उन्हें व्यवहार ही का उपदेश देते हैं, तथा जिन जीवों को निश्चय-व्यवहार का ज्ञान है व उपदेश देने पर उनका ज्ञान होता दिखायी देता है, ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव व सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टि जीव उनको निश्चय सहित व्यवहार का उपदेश देते हैं।"

"वहाँ व्यवहार उपदेश में तो बाह्य क्रियाओं की ही प्रधानता है, उनके उपदेश से जीव पाप क्रियाओं को छोड़कर पुण्य क्रियाओं में प्रवर्तता है।"

पृष्ठ २७९ :- "तथा निश्चयसहित व्यवहार के उपदेश में परिणामों की ही प्रधानता है उसके उपदेश से तत्त्वज्ञान के अभ्यास द्वारा व वैराग्य भावना द्वारा परिणाम सुधारे वहाँ परिणाम के अनुसार बाह्य क्रिया भी सुधर जाती है। परिणाम सुधरने पर बाह्य क्रिया सुधरती ही है, इसलिये श्री गुरु परिणाम सुधारने का मुख्य उपदेश देते हैं।"

"पृष्ठ २७९ "जहाँ निश्चय सहित व्यवहार का उपदेश हो, वहाँ सम्यग्दर्शन के अर्थ चथार्थ श्रद्धान कराते हैं। उनका जो निश्चयस्वरूप है, सो भूतार्थ है, व्यवहार स्वरूप है, सो उपचार है ऐसे श्रद्धान सहित व स्वरूप के भेदज्ञान द्वारा पर द्रव्य में रागादि छोड़ने के प्रयोजन सहित उन तत्त्वों का श्रद्धान करने का उपदेश देते हैं।"

"पृष्ठ २८० - "तथा चरणानुयोग में तीव्रकषायों का कार्य छुड़ाकर मंदकषाय रूप कार्य करने का उपदेश देते



है। यद्यपि कषाय करना बुरा ही है, तथापि सर्वकषाय न छूटते जानकर जितने कषाय घटे उतना ही भला होगा; ऐसा प्रयोजन वहाँ जानना।"

पृष्ठ २८२ — "तथा चरणानुयोग में छद्मस्थ की बुद्धिगोचर स्थूलपने की अपेक्षा से लोक-प्रवृत्ति की मुख्यता सहित उपदेश देते हैं, परन्तु केवलज्ञानगोचर सूक्ष्मपने की अपेक्षा नहीं देते। क्योंकि यहाँ आचरण करने का प्रयोजन है।"

द्रव्यानुयोग पृष्ठ २८४- "जीवों के जीवादि द्रव्यों का यथार्थ श्रद्धान जिसप्रकार हो उसप्रकार विशेष, युक्ति, हेतु, दृष्टान्तादिक का यहाँ निरूपण करते हैं, क्योंकि इसमें यथार्थ श्रद्धान करने का प्रयोजन है।"

पृष्ठ २८४ :- "तथा यहां मोक्षमार्ग का श्रद्धान कराने के अर्थ जीवादि तत्त्वों का विशेष, युक्ति, हेतु, दृष्टान्तादि द्वारा निरूपण करते हैं। वहां स्वपर भेदविज्ञानादिक जिस प्रकार हो उसप्रकार जीव-अजीव का निर्णय करते हैं, तथा वीतरागभाव जिसप्रकार हो, उसप्रकार आस्रवादिक का स्वरूप बतलाते हैं, और वहां मुख्यरूप से ज्ञान-वैराग्य के कारण जो आत्मानुभवनादिक उनकी महिमा गाते हैं।"

पृष्ठ २८४ — "तथा द्रव्यानुयोग में निश्चय अध्यात्म उपदेश की प्रधानता हो, वहां व्यवहार धर्म का भी निषेध करते हैं। जो जीव आत्मानुभव का उपाय नहीं करते और बाह्य क्रियाकाण्ड में मग्न हैं। उनको वहां से उदास करके आत्मानुभवानादिक में लगाने को व्रतशील संयमादिक का हीनपना प्रगट करते हैं। वहां ऐसा नहीं जान लेना कि इनको छोड़कर पाप में लगना, क्योंकि उस उपदेश का प्रयोजन अशुभ में लगाने का नहीं है, शुद्धोपयोग में लगाने को शुभोपयोग का निषेध करते हैं।"

पृष्ठ २८४ — "इसीप्रकार अन्य व्यवहार का निषेध किया हो उसे जानकर प्रमादी नहीं होना। ऐसा जानना कि जो केवल व्यवहार साधन में ही मग्न हैं, उनको निश्चय रुचि कराने के अर्थ व्यवहार को हीन बताया है।"

पृष्ठ २८४ — "तथा उन्हीं शास्त्रों में सम्यग्दृष्टि के विषय भोगादिक को बन्ध का कारण ही नहीं कहा, निर्जरा का कारण कहा, परन्तु यहां भोगों का उपादेयपना नहीं जान लेना, यहां इस कथन का इतना ही प्रयोजन है कि देखो, सम्यक्त्व की महिमा ? जिसके बल से भोग भी गुण (अनन्त संसार के बंध) को नहीं कर सकते हैं।"

पृष्ठ २८४ — "तथा द्रव्यानुयोग में भी चरणानुयोगवत् ग्रहण-त्याग कराने का प्रयोजन है, इसलिये छद्मस्थ के बुद्धिगोचर परिणामों की अपेक्षा ही वहां कथन करते हैं। इतना विशेष है कि चरणानुयोग में तो बाह्यक्रिया की मुख्यता से वर्णन करते हैं, द्रव्यानुयोग में आत्मपरिणामों की मुख्यता से निरूपण करते हैं।"

पृष्ठ २८६ — "द्रव्यानुयोग के कथन की विधि करणानुयोग से मिलाना चाहें तो कहीं तो मिलती है, कहीं नहीं मिलती। जिसप्रकार यथाख्यान चारित्र होने पर तो दोनों अपेक्षा शुद्धोपयोग है, परन्तु निचली दशा में द्रव्यानुयोग अपेक्षा से तो कदाचित् शुद्धोपयोग होता है, परन्तु करणानुयोग अपेक्षा से सदाकाल कषाय अंश के सद्भाव से शुद्धोपयोग नहीं है, इसीप्रकार अन्य कथन भी जान लेना।"

इसके अतिरिक्त भी चारों अनुयोगों के अभ्यास करने में हर स्थान पर, हर एक कथन के समझने में कैसी-कैसी सावधानी रखनी चाहिये, आदि-आदि अनेक

महत्वपूर्ण-जानकारी इस अधिकार में दी गई है, अतः अभ्यासी को पूरा अधिकार भले प्रकार समझना चाहिये।

## निष्कर्ष

यहाँ पर तो हमारा मुख्य विषय है कि तत्त्वनिर्णय के द्वारा अर्थात् अपने आत्मस्वरूप के निर्णय के द्वारा आत्मा को सुखी होने के उपाय का संक्षिप्त व सरल मार्ग ढूँढना है। उपर्युक्त चारों अनुयोगों की कथनपद्धति के अध्ययन से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि अपने आत्मस्वरूप की यथार्थ स्थिति का निर्णय करने के लिए सबसे ज्यादा उपयोगी तो सर्वप्रथम द्रव्यानुयोग के अभ्यास के द्वारा स्व-पर का यथार्थ ज्ञान अर्थात् भेदज्ञान प्राप्त करना ही है, क्योंकि निर्णय कराने की पद्धति का विवेचन तो एकमात्र द्रव्यानुयोग में ही है। जैसा कि पृष्ठ २७१ पर सभी अनुयोगों के कथनों का प्रयोजन बताते हुए द्रव्यानुयोग का प्रयोजन बताया है कि "जो जीव जीवादिक द्रव्यों को व तत्त्वों को नहीं पहिचानते, आपको परको भिन्न नहीं जानते, उन्हें हेतु-दृष्टान्त युक्ति द्वारा व प्रमाण नयादि द्वारा उनका स्वरूप इसप्रकार दिखाया है, जिससे उनको प्रतीति हो जाय।" अतः हमको अपने जीवन की अल्पता, आयु, बुद्धि, बल की हीनता आदि का विचार करते हुये सर्वप्रथम एकमात्र द्रव्यानुयोग में से भी अपने लिए प्रयोजनभूत अत्यन्त सरल व संक्षिप्त मार्ग ढूँढ निकालना है।

उक्त संदर्भ में हमने "तत्त्वनिर्णय का विषय क्या हो?" शीर्षक के अन्तर्गत मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २४८ में निर्देशित यह सरलतम व सत्य मार्ग समझा है कि हमको अपने आत्मा की शान्ति के लिये मात्र हेय, उपादेय एवं ज्ञेय तत्त्वों के स्वरूप को ही भली प्रकार समझना है।

उनके समझने में भी ज्ञेय तत्त्वों में स्वजीव को स्वज्ञेय के रूप में अहंपना स्थापन करते हुये, अपने अतिरिक्त अन्य जीवादि समस्त छह द्रव्यों को परज्ञेय तरीके निर्णय में लेकर परपना स्थापन करने के लिये समझना है, तथा अपने अन्दर ही होनेवाले आत्मा के भावों में भी कौन भाव छोड़ने अर्थात् अभाव करने योग्य है तथा कौन से भाव रखने योग्य अर्थात् उत्पन्न करने योग्य है, ऐसा विवेकपूर्वक यथार्थ निर्णय करके, छोड़ने योग्य भावों में हेयबुद्धि तथा उत्पन्न करने योग्य भावों में उपादेयबुद्धि प्रगट कर यथार्थ श्रद्धा उत्पन्न करना, यह ही एकमात्र संक्षिप्त, सारभूत एवं सरलतम उपाय अर्थात् मोक्षमार्ग है।

## ज्ञेय एवं हेय उपादेय तत्त्वों के सम्बन्ध में

### ज्ञेयतत्त्व

ज्ञेयतत्त्व का विस्तार बहुत विस्तृत है, जगत् में जिसकी सत्ता है अर्थात् अस्तित्व है, वह सब जानने में आता है वही सब ज्ञेयतत्त्व है, जो जानने में नहीं आवे ऐसा कुछ है ही नहीं, अतः ज्ञेयतत्त्व में विश्व के समस्त पदार्थ आ जाते हैं।

सम्पूर्ण विश्व छह द्रव्यों के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं, अतः छह द्रव्य जो जाति अपेक्षा छह प्रकार के होते हुए भी संख्या अपेक्षा अनन्तानंत है और वे द्रव्यगुणपर्यायात्मक होने से, उन अनन्तानंत द्रव्यों में से हर एक द्रव्य तथा उनके अनंतगुण और हर एक गुण की काल की अपेक्षा हर समय नवीन-नवीन पर्याय उत्पन्न होती है, अतः वे सब भी अनन्तानंत हैं। और वे सब ही ज्ञेयतत्त्व में समाविष्ट हो जाती हैं इतना विस्तार है ज्ञेयतत्त्व का।

हम अगर थोड़ा गंभीरतापूर्वक विचार करें तो हमको अपने स्वयं के अनुभव द्वारा भी उक्त तथ्य की पुष्टि होती है। उपर्युक्त संदर्भ में हम अपने स्वयं के आत्मा के सम्बन्ध में ही विचार करें कि मेरा आत्मा भी जीव द्रव्य है ऐसा अस्तित्व मेरे ज्ञान में आ ही रहा है, अतः मेरा ही द्रव्य मेरे ज्ञान का ज्ञेय सिद्ध होता है। मेरी आत्मा में चेतनपना है, जानने की क्रिया जिसमें हो रही है ऐसा ज्ञान गुण भी है, जो वस्तु आत्मा से अलग है उनके सम्बन्ध में भी मेरेपने की उल्टी मान्यता जिसमें हो रही है ऐसा श्रद्धा नाम का गुण भी है, उनको रखने के लिये राग रूप भाव तथा दूर करने के लिये द्वेषरूप भाव जिसमें हो रहा है ऐसा चारित्र गुण का विपरीत कार्य भी है, इससे हमारे वेदन में आता हुआ आकुलता रूपी दुःख भी जिसमें हो रहा है ऐसी विपरीतता का वेदनरूप सुख गुण भी है इसीप्रकार इस आत्मा में अनेक प्रकार के गुण, स्वभाव, क्वालिटियां एक साथ हैं, वे सब भी मेरे ज्ञान के जानने में आ रहे हैं अतः वे सभी ज्ञेय हैं।

इसी प्रकार उपर्युक्त गुणों का अनुभवन हर समय पलटता हुआ हमारे अनुभव में आ रहा है, जैसे— क्रोध पलटकर क्षमा, मान पलटकर निर्मानता आदि—आदि वह सब भी मेरे ज्ञान में ज्ञात होने के कारण, वे सब पर्यायों भी ज्ञेय हैं। इसप्रकार मेरे स्वयं के अनुभव से सिद्ध होता है कि मेरा आत्मा द्रव्य, गुण, पर्यायों सहित मेरे ज्ञान में ज्ञेय हो रहा है। साथ ही ज्ञान की विशेषता और भी है कि मेरा ज्ञान उपर्युक्त प्रकार के सब परिणमनों को जानने के साथ-साथ ही, पर द्रव्यों को भी उनके प्रत्यक्ष गुण-पर्यायों सहित अपने ज्ञान से जानता है, अतः वे सब भी ज्ञेय हैं। यह भी हमारे अनुभव में है, अतः अपने

अनुभव प्रमाण के द्वारा यह स्पष्टतया विश्वास में आता है कि हर एक द्रव्य उन-उन के गुण पर्यायों सहित ज्ञान के द्वारा जानने में आते हैं, अतः वे सबके सब ज्ञेयतत्त्व हैं। इस प्रकार ज्ञेय तत्त्व में सारे जगत के छह द्रव्यों के उन-उनके गुण पर्यायों सहित सबका समावेश हो जाता है, इस प्रकार ज्ञेयतत्त्व के बाहर कुछ रह ही नहीं जाता, इस प्रकार ज्ञेयतत्त्व का विस्तार समझना चाहिए।

प्रवचनसार कलश की टीका के ज्ञेय तत्त्वप्रज्ञापन प्रारंभ करने के पूर्व कहा है कि- "आत्मा रूपी अधिकरण में रहने वाले अर्थात् आत्मा के आश्रित रहनेवाले ज्ञानतत्त्व का इस प्रकार निश्चय करके उसकी सिद्धि के लिये प्रशम के लक्ष्य से ज्ञेयतत्त्व को जानने का इच्छुक जीव सर्वपदार्थों को द्रव्यगुण पर्याय सहित जानता है, जिससे कभी मोहादिक की उत्पत्ति न हो।"

उपर्युक्त ज्ञेयतत्त्व का इतना विशालतम विस्तार सुनकर एक गंभीर उलझन उत्पन्न होती है, कि इतने बड़े विस्तार को समझना कैसे ? तथा यह सब समझने से हमारी आत्मा को शान्ति कैसे प्राप्त होगी? इस समस्या के समाधान में हमको हमारा प्रयोजन जो आत्मशान्ति है, जिसको प्राप्त करने की दृष्टि को मुख्य बनाकर समस्त ज्ञेयतत्त्वों को विभागीकरण पूर्वक समझना चाहिए।

## ज्ञेयतत्त्वों का स्व पर विभागीकरण,

ज्ञेयतत्त्वों को स्वपर के विभागीकरण पूर्वक समझना ही, भेदज्ञान प्रगट करने का उपाय है। जबकि जगत् के छहों द्रव्य अपने-अपने गुण पर्यायों सहित एक ज्ञेय-तत्त्व में समाविष्ट हो जाते हैं, तब हमको हमारे प्रयोजन की सिद्धि

के लिए उस समस्त ज्ञेयतत्त्व को स्व तथा पर ऐसे दो विभागों में विभक्त कर समझना अति आवश्यक हो जाता है। क्योंकि प्राणी मात्र की सामान्य सहज स्वाभाविक प्रक्रिया है कि जिसको अपना मान लेता है, उसकी प्राणपन से रक्षा करे बिना नहीं रहता, पूर्ण सर्वस्व समर्पण कर देता है और जिसको पर मानता है, उसका सर्वनाश हो जाने पर भी किञ्चित् भी विचलित नहीं होता। इस कारण हम भी अगर समस्त ज्ञेय-तत्त्वों को स्व तथा पर ऐसे दो भागों में विभक्त कर लेते हैं, तो हमारी एक बहुत बड़ी उलझन समाप्त हो जाती है।

प्रवचनसार गाथा ९० की टीका में कहा भी है कि "मोह का क्षय करने के प्रति प्रवण अभिमुख बुद्धिवाले बुधजन इस जगत में आगम में कथित अनन्त गुणों में से किन्हीं गुणों के द्वारा जो गुण अन्य के साथ योग रहित होने से असाधारणता धारण करके विशेषत्व को प्राप्त हुये हैं, उनके द्वारा अनन्त द्रव्य परम्परा में स्व-पर के विवेक को प्राप्त करो।

"पं. टोडरमलजी ने भी मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ७८ में कहा है कि "प्रथम तो दुःख दूर करने में आपा-पर का ज्ञान अवश्य होना चाहिये।" क्योंकि अनन्तान्त ज्ञेयतत्त्वों में से रक्षा करने के लिए अर्थात् आकुलता रूपी दुःख की निवृत्ति कर सुखी होने के लिए मात्र एक स्वज्ञेय का ही अनुसंधान करना है, समझना है तथा कुछ भी करना है, मात्र एक स्वज्ञेय में ही करना है। बाकी बचे सारे के सारे अनन्तान्त ज्ञेय-पदार्थ परज्ञेय रूप में रह जाने से मेरे लिए वे सब मात्र उपेक्षणीय ही रह जावेंगे। वे सब ज्ञेय तो हैं लेकिन पर होने के कारण वे मेरा न तो हित ही कर सकते हैं और न कुछ अहित ही कर सकते हैं, अतः

मेरी आत्मा के लिए अप्रयोजनभूत होते हुए भी मेरे ज्ञान में ज्ञेय के रूप में उपस्थित तो होते ही हैं और होंगे भी, क्योंकि जिसकी जगत् में सत्ता है, वह ज्ञान में ज्ञेय के रूप में आवेगा ही, उसके अस्तित्व का प्रकाशन भी तो ज्ञान से ही होता है। ज्ञेयों के ज्ञान में आते ही अगर उनको स्व और पर के विभागीकरण पूर्वक जाने तो मेरी समस्या हल हो सकती है, क्योंकि मेरे लिए अनुसंधान करने योग्य, समझने योग्य अनंतानंत ज्ञेय तत्त्वों में से मात्र एक स्वज्ञेय रूप मेरा आत्मा ही रह जाता है। अकेली अपनी आत्मा के अतिरिक्त अनंतानंत ज्ञेयतत्त्व सारे के सारे परज्ञेय तत्त्व के रूप में रह जाते हैं।

इसप्रकार हमारी एक बहुत बड़ी उलझन कि इन अनंतानंत ज्ञेयतत्त्वों को हम कैसे समझेंगे ? वह हल हो जाती है और हमारी आत्मा का सम्पूर्ण पुरुषार्थ जो उन परज्ञेयों को जो अनेक हैं, उनको अपना मानकर अभी तक सबमें मारा-मारा फिरता था, आकुलित रहता था, दुःखी होता था। उसको उन समस्त ज्ञेयों के प्रति परपना आते ही अत्यन्त विश्राम प्राप्त होता है तथा सम्पूर्ण पुरुषार्थ अपने आत्मा के अनुसंधान में ही लगाने की रूचि जाग्रत हो जाती है। साथ ही परज्ञेयों के प्रति उपेक्षाबुद्धि भी हुए बिना नहीं रहती। अतः उपर्युक्त ज्ञेयतत्त्वों की स्थिति समझ लेने से यही स्पष्ट समझ में आता है, - निर्णय में आता है कि मेरे को मेरी सुख शान्ति प्राप्त करने के लिए, जो भी करना हो वह सब एक मात्र मेरे स्व आत्मा-स्वज्ञेय में ही सम्भव है, अतः मुझे तो प्रयोजनभूत, समस्त ज्ञेयों में से स्व और पर के भेद द्वारा स्वज्ञेय को अनुसंधान के लिए एवं पर ज्ञेयों के प्रति उपेक्षाबुद्धि उत्पन्न करने के लिए ही समझना है।



## स्वज्ञेय की यथार्थ खोज में परज्ञेय उपेक्षित हो ही जाते हैं-

इसी विषय को दृष्टान्त के माध्यम से समझेंगे, जैसे किसी व्यक्ति को अपरिचित नगर में अपने स्वजन के पास जाना हो, और उसका निवास स्थान भी किसी अप्रसिद्ध गली आदि में हो, तो वह व्यक्ति उस अपने स्वजन को खोजने के लिए क्या पद्धति अपनावेगा ? इस पर विचार करना चाहिए।

सर्वप्रथम वह उस नगर में अपने स्वजन के मोहल्ले का पता पूछेगा, उस मोहल्ले तक पहुंचने का मार्ग भी समझेगा, मार्ग में आनेवाले नामांकित चौराहे, मोहल्ले आदि के सम्बन्ध में भी समझेगा। उस मोहल्ले में पहुंच जाने पर भी उस गली में पहुंचने के लिए नामांकित स्थानों, भवनों, व्यक्तियों की जानकारी प्राप्त करेगा, व्यक्तियों से भी परिचय करेगा। इसप्रकार सब जानकारी प्राप्त करते-करते खोजते-खोजते जब वह अपने स्वजन के निवास पर पहुंच जाता है, उससमय ही वह स्वजन मिलन के आनन्द की अनुभूति में और अपने स्वजन से आत्मीयता प्राप्त कर ऐसा आनन्दित हो जाता है कि मोहल्लों, उनका मार्ग, नामांकित स्थान, गली के मकान, उस स्वजन के घर तक पहुंचने के लिए जिन-जिन गली से मकानों को समझने के लिए इतना भारी श्रम उठाया था तथा जिन-जिन ने संपर्क किया था, उन लोगों तथा उन-उन सबकी सहायता के बिना वह स्वजन के निवास पर पहुंच भी नहीं सकता था, इतने भारी उपकारी को भी तत्समय ही भुला देता है, इसमें किंचित् भी संकोच नहीं करता। यथार्थ स्थिति भी यही है कि उन सबको जानने का मुख्य उद्देश्य ही स्वजन

के निवास तक पहुंचना था, उन सबके जानने के समय ही श्रद्धा में यह स्पष्ट था कि इन सबका कोई उपयोग नहीं है।

इसीप्रकार स्व आत्मा रूपी स्वज्ञेय तत्त्व को समझने के लिए उपयोगी, अन्य ज्ञेय तत्त्वों को मात्र आत्मा को समझने के लिए जितना व जिन-जिन को समझना आवश्यक हो उनको ही उतना ही समझना है अर्थात् उन सबका ऐसा ही जानना पर्याप्त है, जैसा कि दृष्टान्तान्तर्गत व्यक्ति को निवास तक पहुंचने के लिए गली, मोहल्ला, नामांकित चौराहा, स्थान, व्यक्ति आदि को जानकर उस गली के अनेक मकानों को जानना पड़ जाता है, उन सबको जानते हुए भी अन्दर श्रद्धा में उनके प्रति परपना होने से उनकी विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिए एक क्षण भी नहीं रुकता है, जैसे यह मकान बहुत अच्छा बना हुआ है, यह कितना बड़ा है? इसमें कितने कमरे हैं, इसका स्वामी कौन है? कैसा है, कितने व्यक्ति निवास करते हैं। आदि-आदि, विगत जानने के लिए क्या अपना एकक्षण भी देना चाहता है? बल्कि अगर हमारी कोई साथी उपर्युक्त जानकारी प्राप्त करने की चेष्टा भी करने लगेगी तो हम उसको मूर्ख समझेगे और आगे बढ़ जावेंगे। गंभीरता से विचार किया जावे तो यथार्थतः तो उन सबके जानते समय भी, यह समझते हुए भी कि उपर्युक्त सब बातों की जानकारी के बिना मेरे स्वजन को निवास नहीं मिल सकता, अतः उपर्युक्त सभी बातों को मनोयोगपूर्वक पूरा-पूरा श्रम करके समझता है, लेकिन अन्दर श्रद्धा में सुनते समय भी जानते समय भी, समझते समय भी एवं उन स्थानों पर पहुँच जाने पर भी उन सबके प्रति "परपना" होने से अत्यन्त हेयभाव अर्थात् उन सबको छोड़ने के भावसहित ही जानता

एवं समझता है व उन सबके प्रति समझने का श्रम करते हुए भी रुकने के लिए किंचित् मात्र भी उत्साह नहीं बर्तने से उन सबको प्राप्त होते ही छोड़ता हुआ आगे बढ़ता हुआ चला जाता है, उसमें अटकने के लिए किंचित् मात्र भी प्रयास तो नहीं करता वरन् अत्यन्त उत्साहहीन रहता है, अतः अगर कोई साथी अटकने की चेष्टा भी करे तो उसका भी निषेध कर आगे चलने के लिए उसे भी प्रोत्साहित करता है।

## स्वज्ञेय को खोजने की पद्धति

ठीक इसीप्रकार अर्थात् उक्त दृष्टान्त के अनुसार आत्मार्थी जीव को भी "स्वज्ञेयतत्त्व" अर्थात् स्वआत्मद्रव्य जिसको अनादिकाल से भूला हुआ है और वह लोकालोक के अनंतानंत ज्ञेयद्रव्यों में खोया हुआ है, ऐसे उस स्वजनरूपी स्वज्ञेय को खोजने के लिए भी उपर्युक्त दृष्टान्त की पद्धति ही अपनानी होगी।

प्रवचनसार गाथा १४५ की टीका में कहा है कि— इसप्रकार जिन्हे प्रदेश का सद्भाव फलित हुआ है ऐसे आकाश पदार्थ से लेकर काल पदार्थ तक के सभी पदार्थों से समाप्ति को प्राप्त जो समस्त लोक है, उसे वास्तव में उसमें अंतःपाती होने पर भी अचिन्त्य ऐसी स्व-पर को जानने की शक्तिरूप सम्पदा के द्वारा जीव ही जानता है, दूसरा कोई नहीं, इसप्रकार शेष द्रव्य ज्ञेय ही हैं, और जीवद्रव्य तो ज्ञेय तथा ज्ञान हैं, इसप्रकार ज्ञान-ज्ञेय का विभाग है।

सर्वप्रथम इस लोकालोक में विस्तरित अनंतानंत ज्ञेय द्रव्यों में अनादिकाल से खोये हुये निज आत्मद्रव्य रूपी स्वजन

की खोज करने की उग्र जिज्ञासा जाग्रत होनी चाहिए। उग्र जिज्ञासा प्राप्त खोजक जीव, सर्वप्रथम तो जिसने अपने स्वज्ञेय का प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त किया हो, ऐसे ज्ञानी पुरुष का समागम प्राप्त करने की चेष्टा करता है, क्योंकि जिसने प्रत्यक्ष परिचय किया हो वह सच्चा-सही व सुगम मार्ग बता सकेगा। उसके बताये मार्ग को समझकर पूर्ण समर्पण भाव के साथ श्रद्धा में प्रगट करने का अभ्यास करेगा। ज्ञानी पुरुष के अभाव में जिसमें वह मार्ग बताया गया हो ऐसे साहित्य अर्थात् जिनवाणी का आश्रय लेकर उसमें से मार्ग समझने की उग्र जिज्ञासा के साथ खोजने का प्रयत्न करेगा। उस अध्ययन में आये हुए मार्ग को जबतक भले प्रकार समझ में नहीं आवे, उसको पूरे प्रयत्न के साथ समझने के लिए बार-बार विचार-मंथन-चिन्तन करेगा। उसमें आई हुई अपेक्षाओं को समझने के लिए विशेषज्ञों से सम्पर्क करेगा। उनके बताये हुये मार्ग पर भी विचार-चिन्तन-मनन द्वारा उसकी भी सत्यता की परीक्षा करके हृदयंगम करने की पूरी चेष्टा करेगा। कदाचित् विशेषज्ञों का भी समागम प्राप्त नहीं हो सके तो साधर्म्य खोजक पुरुषों के साथ चर्चा करे कि जो जिनवाणी का कथन उसने समझा है वह किस अपेक्षा का कथन समझा है, उसके द्वारा परिणति में वीतरागता उत्पन्न होगी ऐसा इसके मंथन से समझ में आता है, आदि-आदि । आपसी चर्चा से कोई नये तथ्य की सत्यता जानने में आवे तो उस पर भी गंभीरता से विचार करके सत्य मार्ग को खोज लेता है।

सबका तात्पर्य एकमात्र वीतरागता है, समस्त विचार-मंथन का निष्कर्ष, जिस मार्ग से परिणति में वीतरागता की उत्पत्ति होती जाने उस ही मार्ग को सत्य मानकर निःशंक

होकर उसकी दृढ़ता के साथ प्रतीति करता है, तब उसके फलस्वरूप उसको स्वज्ञेय रूपी निज आत्मद्रव्य से मिलन करने अर्थात् प्रत्यक्ष करने का यथार्थ मार्ग प्राप्त होता है। पं. टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ 258 में भी कहा है कि—

“तथापि परीक्षा करने में अपना विवेक चाहिये, सो विवेकपूर्वक एकान्त में अपने उपयोग में विचार करे कि जैसा उपदेश दिया वैसे ही है या अन्यथा है ? वहां अनुमानादि प्रमाण से बराबर समझे। अथवा उपदेश तो ऐसा है, और ऐसा न माने तो ऐसा होगा, सो इनमें प्रबल युक्ति कौन है और निर्बल कौन है? जो प्रबल भासित हो उसे सत्य जाने तथा यदि उपदेश से अन्यथा सत्य भासित हो, अथवा उसमें सन्देह रहे, निर्धार न हो, तो जो विशेषज्ञ हो उनसे पूछे, और वे उत्तर दें उसका विचार करे। इसप्रकार जबतक निर्धार न हो, तबतक प्रश्न-उत्तर करे। अथवा समान बुद्धि के धारक हों, उनसे अपना विचार जैसा हुआ हो, वैसा कहे और प्रश्न-उत्तर द्वारा परस्पर चर्चा करे, तथा जो प्रश्नोत्तर में निरूपण हुआ हो उसका एकान्त में विचार करे, इसीप्रकार जबतक अपने अंतरंग में जैसा उपदेश दिया था, वैसा ही निर्णय होकर भावभासित न हो तबतक इसीप्रकार उद्यम (पुरुषार्थ) किया करे।

“ऐसा उद्यम करने पर जैसा जिनदेव का उपदेश है, वैसा ही सत्य है, मुझे भी इसीप्रकार भासित होता है, ऐसा निर्णय होता है।”

उपर्युक्त समस्त प्रक्रिया तो मात्र अपने स्वजन रूपी स्वज्ञेय को खोजने की यथार्थ विधि अर्थात् सत्यार्थ मार्ग समझने

की पद्धति है, लेकिन अभी इस मार्ग पर चलकर स्वजन रूपी आत्मद्रव्य से समागम अर्थात् मिलन करने का पुरुषार्थ तो बाकी ही रहता है।

विशेष समझने योग्य बात यह है कि उपर्युक्त दृष्टान्त में तो मार्ग समझ लेने पर भी स्वजन को खोजने के लिए अनेक प्रकार की पराधीनता भी है, लेकिन सिद्धांत में ऐसा नहीं है। आत्मा को प्राप्त करने का मार्ग यथार्थ समझ में आने पर स्व आत्मा को प्राप्त करना अत्यन्त सरल स्वाधीन है, कारण स्वआत्मा तो स्व का द्रव्य ही है, कहीं बाहर से लाना नहीं है और जिसको मिलन करना है, वह स्व की ही पर्याय है, वह भी कोई अन्य नहीं है, द्रव्यपर्याय दोनों के एक ही प्रदेश है अर्थात् द्रव्य भी एक, क्षेत्र भी एक, काल भी एक और भाव भी एक के ही हैं इसमें कहीं किसी अन्य का कुछ भी तो नहीं है, बाहर से कुछ लाना भी नहीं है, अतः अत्यन्त स्वाधीन है, पराधीनता का अंश भी नहीं है, फिर उसको प्राप्त करना कठिन कैसे हो सकता है ? अतः अत्यन्त सरल है। लेकिन पर्याय ने अपना मुख आत्मा की ओर से विमुख होकर परज्ञेयों में अपनापन मानकर परज्ञेयों के सन्मुख कर रखा है। ऐसी स्थिति में वह पर्याय स्वआत्मा का मिलन कैसे कर सकती है ? जिसकी ओर सन्मुखता होगी तो मिलन भी तो उस ही से हो सकता है, जिधर पीठ होगी उससे सम्मिलन कैसे संभव हो सकता है? यह एक ही कारण है कि अनादिकाल से इस स्व आत्मा रूपी स्वद्रव्य की, स्वयं की पर्याय ही स्वयं अपने ही द्रव्य से सम्मिलन कर आनन्द की अनुभूति नहीं कर सकी।

उपर्युक्त विचार-विश्लेषण का निष्कर्ष यह है कि अब

इस आत्मा का कर्तव्य कोई है तो मात्र यही रह जाता है कि अपनी ही पर्याय की परसन्मुखता समाप्त कर स्वसन्मुखता करने का उपाय खोजना है। उस ही का नाम मोक्षमार्ग है, उस ही का नाम शांति प्राप्त करने का संक्षेप से संक्षेप एवं सरल से सरल उपाय है। ऊपर कहे अनुसार, सच्चे आत्मज्ञानी पुरुष के द्वारा अथवा जिनवाणी के विचार, चिन्तन, मनन, चर्चा, वार्ता आदि के माध्यम से जो मार्ग समझा हो उसकी यथार्थता की परीक्षा करने की कसौटी भी यही है कि वह मार्ग जो हमने समझा है, वह पर्याय की परसन्मुखता का अभाव कर स्वसन्मुखता उत्पन्न कराता है या नहीं? अगर वह मार्ग उपर्युक्त दशा प्राप्त कराने का उपाय है, तो वह ही मार्ग यथार्थ है, उपादेय है और निःशंक होकर पूर्ण पुरुषार्थ के द्वारा ग्रहण करने योग्य है और अगर उस मार्ग के द्वारा परसन्मुखता का अभाव नहीं हो पाता है तो समझना चाहिए कि जो मार्ग हमने समझा है वह यथार्थ नहीं है, अतः उसमें पुनः खोज करके यथार्थ मार्ग प्राप्त करने का पुनः प्रयास करना चाहिए। और जो मार्ग उपर्युक्त कसौटी पर सही साबित हो, वही सच्चा मार्ग जानकर उस ही को श्रद्धा में पक्का करके पूर्ण पुरुषार्थ के द्वारा निःशंक होकर साधन करना चाहिए। यही एक मार्ग अपनी पर्याय को निज आत्मा के साथ सम्मिलन प्राप्त करके अत्यन्त तृप्त होकर आनन्दित हो जाने का है। भगवान् अरहंत भी इस ही मार्ग के द्वारा अपनी पर्याय को आत्मसन्मुख कर आत्मा के साथ ऐसे एकमेक हो गये कि पर्याय बाहर निकलने को उत्सुक ही नहीं होती। फलतः अनंत काल तक उस ही आनन्द का अनवरत उपभोग करते रहते हैं। यथार्थ मार्ग तथा यथार्थ पुरुषार्थ की पहचान ही यही है कि उसके फल में

निश्चितरूप से आत्मा के प्रत्यक्षीकरणपूर्वक पर्याय अभेद होकर अपनी अनुभूति में अपूर्व आनन्द प्रगट करे। यह असंभव है कि यथार्थ मार्ग एवं यथार्थ पुरुषार्थ के फल में आनन्द की अनुभूति प्रगट न हो। यह आनन्द अतीन्द्रिय आनन्द होने से अपूर्व ही जाति का होता है। यह आनन्द भगवान् अरहंत के आनन्द की ही जाति का है लेकिन अत्यल्प होता है, जो कि यथार्थ पुरुषार्थ के द्वारा बढ़ते-बढ़ते भगवान् अरहंत के रूप में पूर्ण हो जाता है। अतः जिस मार्ग के द्वारा एवं पुरुषार्थ द्वारा भगवान् अरहंत बना जा सकता है वह ही तो एकमात्र सच्चा वास्तविक मोक्षमार्ग हो सकता है, अन्य को कैसे यथार्थता प्राप्त हो सकती है ?

निष्कर्ष यह है कि मार्ग के समझने में अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है। ऐसा न हो कि गलत मार्ग को सच्चा मार्ग मानकर उसके अनुसार पुरुषार्थ करते-करते सारा मनुष्यभव ही समाप्त हो जावे और यह भव छूटने के बाद पुनः सत्समागम एवं जिनवाणी के समागम का योग मिलना ही संदिग्ध होकर अनंत संसार का परिभ्रमण प्राप्त हो जावे। अतः पूर्ण सावधानीपूर्वक, विवेकपूर्वक, यथार्थ मार्ग को अपनी विवेक रूपी कसौटी से परखकर स्वीकार करके निर्णय करना चाहिये, यही एकमात्र कर्तव्य है।

## परसन्मुखता कैसे दूर हो ?

यह तो हमारे अनुभव से स्पष्ट है कि जिस ओर की हमारी रुचि होती है, उपयोग उस ओर दौड़े बिना रहता ही नहीं है, हम चेष्टा करके भी उपयोग को उधर से हटाना चाहें तो भी हटता नहीं है और हट भी जावे तो पुनः-पुनः उस ओर ही दौड़ जाता है और जिसको अपना



मानता है, उसकी सुरक्षा करने की, उसकी वृद्धि करने की, उसके बाधा पहुँचानेवाले कारणों को दूर करने आदि की रुचि उत्पन्न हुए बिना रहती ही नहीं है, साथ ही जिसको पर मान लेता है अर्थात् अपना नहीं मानता उस ओर की रुचि उत्पन्न होना तो दूर, वरन् उसका सर्वस्व नाश हो जावे तो भी किञ्चित् मात्र भी चिन्ता उत्पन्न नहीं होती है, यही प्राणिमात्र की सहज अनुभवसिद्ध स्थिति है। उपर्युक्त स्थिति से यह स्पष्ट है कि इस जीव ने अभी तक अपने निज आत्मा रूपी स्वज्ञेय को, जो स्वज्ञेय भी है तथा ज्ञान भी है, उसमें कभी भी अपनापन स्थापन नहीं किया है और परज्ञेय जो अपने से स्पष्टरूप से भिन्न है, किसी प्रकार भी अपने नहीं है और न कभी भी अपने हो सकते हैं, उन्हीं में अपनापन स्थापन कर रखा है अर्थात् उन्हीं को मैंने अपना मान रखा है, इस ही के फलस्वरूप मेरी रुचि परज्ञेयों के रक्षण, वृद्धि आदि की ओर निरन्तर दौड़ती रहती है और यही कारण है कि परसन्मुखता कभी भी दूर हुई ही नहीं है और जब तक परज्ञेयों में आत्मबुद्धि अर्थात् अपनापन रहेगा, तबतक परसन्मुखता कभी दूर नहीं हो सकती और स्वज्ञेय अर्थात् अपना स्व आत्मा की सन्मुखता होना कभी भी संभव नहीं हो सकता।

निष्कर्ष यह है कि अपनी पर्याय की परसन्मुखता दूर करके स्वसन्मुखता करनी हो तो एकमात्र स्वआत्मा में ही जो कि अपना ही है, कभी भी पर मानें तो भी पर नहीं हो सकता, उसमें आत्मबुद्धि अर्थात् अपनापन प्रगट करे, यह ही एकमात्र उपाय है, पर्याय को स्वसन्मुख करने का; अन्य कोई उपाय ही नहीं है। पर्याय की स्वसन्मुखता हुये बिना स्व आत्मा के मिलन का अर्थात् स्वात्मानुभव का अन्य कोई उपाय है नहीं तथा हो सकता भी नहीं।

निष्कर्ष यह है कि जगत् के समस्त ज्ञेयपदार्थों को स्व और पर के विभागीकरणपूर्वक समझना मात्र ही नहीं है, वरन् स्वज्ञेय को आत्मबुद्धि सहित स्व के रूप में समझना है और मानना है तथा परज्ञेयों के प्रति अनादिकाल से आत्मबुद्धि चली आ रही है, उसके अभावपूर्वक परज्ञेयों के प्रति परत्वबुद्धि सहित पर के रूप में ही, समझना और मानना है।

प्रवचनसार गाथा १८३ के शीर्षक में कहा है कि "अब यह निश्चय करते हैं कि—जीव को स्व द्रव्य में प्रवृत्ति का निमित्त स्व-पर के विभाग का ज्ञान है, और परद्रव्य में प्रवृत्ति का निमित्त स्व-पर के विभाग का अज्ञान है।"

## जानना व मानना एकसाथ कैसे हो सकता है?

जानना तो ज्ञानगुण की पर्याय है तथा मानना श्रद्धा गुण की पर्याय है, द्रव्य तो अनंत गुणों का पिंड एक है, अतः आत्मद्रव्य के हर एक समय के परिणमन अर्थात् उत्पाद में अनंत गुणों का उत्पाद एकसाथ ही होता है, अतः ज्ञानगुण के साथ श्रद्धागुण का भी तत्समय ही उत्पाद होने से जानना व मानना एकसाथ होना ही चाहिए, तथा ऐसा ही हमारे अनुभव में भी आता है। जैसे किसी मित्र को जानने के साथ ही यह मेरा हित चिन्तक है ऐसी मान्यता तत्समय ही वर्तती हुई अनुभव में आती है, उसीप्रकार स्वज्ञेय के जानने के साथ-साथ ही उसमें स्वपने की मान्यता सहित जानना, तथा परज्ञेय के ज्ञान के समय साथ-साथ ही उसमें परपने की मान्यता सहित जानना ही यथार्थ जानना है। आत्महित के लिए इसप्रकार जानना ही कार्यकारी है।

मान्यता रहित मात्र अकेला जानना कभी हो सकता ही नहीं है, क्योंकि श्रद्धागुण परिणमन करे बिना किसी समय भी रह सकता ही नहीं है। यही कारण है कि आनादिकाल से यह आत्मा परज्ञेयों में आत्मबुद्धि होने से परज्ञेयों को स्व के रूप में ही जानता एवं मानता चला आ रहा है, यह मान्यता प्रत्यक्ष विपरीत होने से, ऐसी मान्यता अर्थात् श्रद्धा को, विपरीत श्रद्धा, मिथ्यामान्यता, मिथ्यादर्शन, मिथ्यात्व, अज्ञान आदि अनेक नामों से जिनवाणी में कहा गया है।

## स्वसन्मुखता प्रगट करने का उपाय

इस आत्मा की कोई प्रकार की अपेक्षा रखे बिना परद्रव्य स्वतंत्रता से अपने-अपने गुण पर्यायों में परिणमन करते हैं, लेकिन यह अज्ञानी उन सबका अपने को स्वामी मानकर अपने अनुकूल परिणमाना चाहता है, लेकिन वे तो अपने परिणमन से परिणमते हैं, इसके अनुकूल ही कैसे परिणमन कर सकते हैं, फलतः यह निरन्तर आकुलित-व्याकुलित रहते हुये उनको अपना बनाने का प्रयास करता-करता ही अपना जीवन समाप्त कर देता है। इसके विपरीत ज्ञानी आत्मा, अपने स्वआत्मद्रव्य में ही स्वपना मानते व जानते हुए परिणमता है, और स्व तो त्रिकाल एकरूप अपरिवर्तनीय है, अतः पर्याय अपने ही स्वद्रव्य से एकमेक होकर परिणमती है और परमशांति का अनुभव करती है, यथार्थ श्रद्धा (मान्यता) प्रगट होने की सबसे मुख्य पहिचान भी यही है कि ऐसी परम शांति का अनुभव हो, ऐसी दशा प्रगट होनेवाले को ही सम्यग्दृष्टि आदि अनेक नामों से जिनवाणी में कहा गया है। इस विषय की विस्तारपूर्वक चर्चा भाग-३ में की जावेगी।

परसन्मुखता का अभाव करके स्वसन्मुखता प्रगट करने का एकमात्र उपाय यह ही है कि ऐसी श्रद्धा उत्पन्न हो कि समस्त ज्ञेय-पदार्थ इस आत्मा से एकदम भिन्न हैं, पर है, उपेक्षणीय है और एकमात्र मेरा ज्ञाता स्वभावी स्वआत्मद्रव्य ही मैं हूँ, यही मेरा सर्वस्व है, अभिन्न है और मेरे लिये यही मात्र एक अपेक्षा करने योग्य अर्थात् मुख्य है, निश्चय है, जो कुछ कहो यही है, इसप्रकार की श्रद्धा जाग्रत होते ही स्वसन्मुखता प्रगट हो जाती है। समयसार ग्रन्थ के कलश २०० में आचार्य अमृतचंद्रदेव ने कहा भी है कि—

नास्तिसर्वोऽपि संबन्धः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः।

कर्तृकर्मत्वसंबन्धाभावे तत्कर्तृता कुतः ॥

अर्थ :— परद्रव्य और आत्मद्रव्य का (कोई भी) सम्बन्ध नहीं है, इसप्रकार कर्तृत्व कर्मत्व के संबन्ध का अभाव होने से आत्मा के परद्रव्य का कर्तृत्व कहाँ से हो सकता है?

इसप्रकार परसन्मुखता का अभाव कर स्वसन्मुखा करने का यही एकमात्र उपाय है।

## मात्र स्वज्ञेयतत्त्व ही अनुसंधान करने योग्य है.

हमने यहाँ मूल विषय ज्ञेय एवं हेय-उपादेय तत्त्वों के विषय के अंतर्गत "ज्ञेयतत्त्व " के संबन्ध में विस्तार से चर्चा की। ज्ञेयतत्त्वों की अपरिमित संख्या होने पर भी उन सब ज्ञेयों में एकमात्र स्वआत्मद्रव्य को ही स्वज्ञेय जानकर व मानकर बाकी अपरिमित विस्तार में विस्तृत समस्त ज्ञेयतत्त्वों को अपनी आत्मा से पर है— यह जानना व मानना चाहिए। सभी परज्ञेयों से श्रद्धा में सभी प्रकार के संबन्ध

तोड़कर उनके प्रति उपेक्षित होकर, एकमात्र स्व को ही अनुसंधान एवं विस्तारपूर्वक समझने योग्य मानकर, अन्य सब ज्ञेयों की चिन्ता छोड़कर एवं उनके प्रति निरर्थक, भटकनेवाली बुद्धि को समेटकर, एकमात्र स्वज्ञेय के अनुसंधान में ही जीवन के बचे हुए क्षण लगाकर यथार्थ निर्णय प्राप्त करना ऐसा ध्येय बनाना चाहिए। इस ही से प्रयोजन की सिद्धि संभव है। उपर्युक्त निर्णय करने के बाद अपने स्वज्ञेतत्त्व को कैसे समझना? इस विषय पर चर्चा करेंगे।

## स्वज्ञेतत्त्व के अनुसंधान की पद्धति

"सुखी होने का उपाय भाग-१" के माध्यम से हमने विस्तारपूर्वक भलीभाँति यह समझा है कि इस विश्व में जाति अपेक्षा छह प्रकार के और संख्या अपेक्षा अनंतानंत द्रव्यों में कोई भी द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य की किसी भी एक समय की पर्याय में भी कुछ नहीं कर सकता। हर एक द्रव्य जो भी करता है, अपने द्रव्य में ही करता है। अतः मैं भी एक आत्मद्रव्य हूँ और अपने ही स्वक्षेत्र में रहते हुए अपनी ही पर्यायों में कुछ भी कर सकता हूँ पर किसी भी द्रव्य अथवा उसकी किसी भी पर्याय में कुछ भी नहीं कर सकता। इसलिए मेरे कार्य मेरे ही द्रव्य तक सीमित है, पर के साथ कुछ भी लेना-देना नहीं है।

तत्पश्चात् चर्चित विषय ज्ञान व ज्ञेय के विभागीकरण अर्थात् स्व-पर भेदज्ञान विषय के अन्तर्गत भी हमने यह समझा कि एकमात्र मेरे आत्मद्रव्य के अतिरिक्त जगत के सभी पदार्थ अपने द्रव्य-गुण-पर्यायों सहित, मेरे ज्ञेयमात्र ही नहीं, परज्ञेय है, और मेरा आत्मद्रव्य स्वयं ज्ञाता भी है

तथा स्वज्ञेय भी है। परज्ञेय मेरे से भिन्न होने से उनमें आत्मा कुछ भी नहीं कर सकता, अतः वे अत्यन्त उपेक्षणीय हैं, उनकी चिन्ता में मेरे जीवन का एक क्षण भी क्यों बर्बाद किया जावे ? मेरे अनुसंधान करने योग्य तो मेरे लिए मात्र मेरा एक स्व-आत्मा ही रह जाता है।

इसप्रकार के निर्णयों से यह आत्मा एकमात्र अपनी आत्मा के अतिरिक्त समस्त द्रव्यों के कर्तृत्व आदि के भारी बोझ से निर्भर होकर जगत् के सभी द्रव्यों में बिखरे हुए अपने पुरुषार्थ को सब ओर से समेट कर एकमात्र अपने स्व-आत्मद्रव्य की खोज द्वारा अपनी आत्मा में शांति प्राप्त करने का प्रयास करता है।

ऐसा आत्मार्थी जीव, सब तरफ से अपनी बुद्धि को समेट कर, श्रद्धा में सबसे संबंध तोड़कर, एकमात्र अपने आत्मा के अनुसंधान में ही अपनी बुद्धि को लगाता है। श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा भी है कि— "काम एक आत्मार्थिनो, बीजो नहि मन रोग।"

ऐसे आत्मार्थी के अभिप्राय में एकमात्र स्व-आत्मा ही मुख्य हो जाता है, और जगत् के सभी कार्य गौण हो जाते हैं। धन-सम्पदा-वैभव आदि के बढ़ने से होनेवाला हर्ष एवं घट जाने से होनेवाला खेद, परद्रव्यों के कार्य मानने से, वे स्वतः ही गौण हो जाने के कारण आत्मार्थी अपने ध्येय से विचलित नहीं होता। इसीप्रकार शरीर की स्वस्थता होने

पर अथवा अस्वस्थता होने पर, उसको अन्य द्रव्य के कार्य मानने के कारण, वे भी गौण होकर, अपना आत्म-अनुसंधान मुख्य होने से वह उससे नहीं हटता। यही कारण है कि आत्मार्थी का बाह्य-जीवन भी स्वतः पवित्र हो जाता है। लौकिक प्रतिष्ठा के कार्यों में, धर्म व समाज के नाम पर अपना समय फँसा देने के कार्यों के प्रति, मान-बड़ाई प्राप्त करने के कार्यों के प्रति सहज ही दूर रहने की उसकी मनोवृत्ति बन जाती है। कभी विषय-भोगों आदि की वृत्ति खड़ी हो जाने पर भी, अथवा कोई प्रसंग को लेकर कषाय उत्पन्न हो जाने पर भी उनके प्रति अंतरंग रुचि का अभाव होने से उनमें ज्यादा नहीं उलझता एवं शीघ्र ही तत्संबंधी विकल्पों का अभाव करके, अपने आत्म-अनुसंधान के कार्यों को मुख्य करके, उस कार्य में संलग्न रहने की ही रुचि रखता है। इन सभी कारणों से उसका अन्तरंग एवं बहिरंग जीवन एक आदर्श जीवन बन जाता है। आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी ने समाधिशतक ग्रंथ में लिखा है—

आत्मध्यानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेत्चिरं।  
कुर्यात् दर्शवशात् किञ्चित् वाङ्मायाभ्यामतत्परः

अर्थ :— आत्मध्यान को छोड़कर अन्य कार्य को बुद्धि में अधिक समय तक धारण नहीं करना चाहिए। प्रयोजनवश अन्य कार्य करना भी पड़े तो वचन तथा शरीर द्वारा करे, मन को न लगावे।

ऐसा आत्मार्थी जीव अपनी आत्मिक शांति प्राप्त करने के उद्देश्य से अपने स्वयं के आत्मा के अनुसंधान में तीव्र रुचि से लग जाता है, क्योंकि उसे यह विश्वास जाग्रत हो गया है कि मेरी शांति कहीं बाहर से नहीं आ सकती, शान्ति तथा अशान्ति दोनों ही मेरी स्वयं की पर्याय में ही होती हुई अनुभव में आती है, अतः आत्मिक शांति भी मेरे अन्दर ही है, अन्दर से ही पर्याय में प्रगट होगी आदि-आदि ऐसा आत्मार्थी जीव जब आत्मा का अनुसंधान करता है, तो उसको आनेवाली अनेक समस्याओं के संबंध में विस्तृत विचार करना आवश्यक है, क्योंकि इनके निवारण होने से ही उसके प्रयोजन की सिद्धि होगी।

इसप्रकार के आत्मानुसंधान के लिये सहज ही शास्त्रों के अध्ययन करने की रुचि होती है। सत्समागम के द्वारा अपने अनुसंधान में आने वाली कठिनाइयों के निवारण के लिये उनका समागम प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। अनुसंधान के सहायक ऐसे चिन्तन मनन करने के लिये एकान्त प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। अपनी आत्मिक शांति प्राप्त करने के उपरोक्त प्रयत्नों की कठिनता और दुर्लभता अनुभव करते हुवे, जो इसप्रकार के पुरुषार्थ द्वारा आत्मानुसंधान पूर्वक आत्मसाधना के द्वारा आत्मिक शांति प्राप्त कर चुके हैं, ऐसे अरहंत सिद्ध परमात्माओं के प्रति हृदय में अत्यन्त भक्ति उमड़ने से उनकी पूजा भक्ति आदि के कार्य भी करता है। आत्मसाधना के कार्य में संलग्न साधक जीव को अपने से आगे बढ़ चुके हैं उनके प्रति सहज ही तारतम्यतानुसार आदरभाव वर्तता है अतः उनका अनुकरण एवं समागम का प्रयत्न करता रहता है। इसप्रकार ऐसे आत्मार्थी जीव का जीवन ही परिवर्तित हो जाता है।



स्वज्ञेयतत्त्व में भी अनेकता दीखती है,  
 "मैं अपनापना किसमें मानूँ?"

जगत के अनंतानंत ज्ञेय द्रव्यों में से परज्ञेयों के साथ संबंध तोड़कर एकमात्र स्वज्ञेय अर्थात् निज द्रव्य को ही "स्व" अर्थात् "मैं" के रूप में स्वीकार कर लेने पर ऐसी श्रद्धा जाग्रत हो जाती है कि एकमात्र स्वज्ञेयतत्त्व ही अनुसंधान करने योग्य है।

परज्ञेय तत्त्व मेरे ज्ञान के विषय जरूर बनेंगे, लेकिन वे सब मात्र उपेक्षा योग्य ही हैं। परज्ञेयों को स्व मानकर उनके अनुसंधान में ही अभी तक अनंत भव नष्ट कर चुका हूँ, अब तो मात्र अपने आत्मा को ही मेरा स्व मानकर उस ही के ज्ञान श्रद्धान आचरण में ही यह जीवन लगे ऐसी श्रद्धा जागृत होती है, ऐसी श्रद्धा जाग्रत हो जाने पर, मैपना स्थापन करने के लिये जब अपने आत्मा के अनुसंधान करने का प्रयास करता है, तो वहाँ अनेक प्रकार की अनेकताओं के दर्शन होते हैं। यथा - सामान्य अज्ञानी जीव को एक ओर रागादि विकारी भाव, दूसरी ओर शांत भाव। एक ओर आकुलतारूप दुःख भाव, एक ओर मंद आकुलता रूप कल्पित सुखभाव एक ओर जाननरूप क्रिया, एक ओर क्रोधादि क्रिया आदि-आदि रूप अनेक प्रकार के परिवर्तन करता हुआ ही आत्मा, ज्ञान की पकड में आता है। थोड़े अभ्यासी जीव को भी द्रव्य, गुण, पर्याय रूप से; उत्पाद, व्यय, ध्रुव रूप से; द्रव्य स्वभाव एवं पर्याय स्वभाव रूप से आत्मा में अनेकता ही अनुभव में आती है, अतः समस्या खड़ी होती है कि इन सब में "मैं" कौन हूँ?

समस्या की जटिलता इसलिये भी बढ़ जाती है कि पूर्व मान्यतानुसार छह प्रकार के अनंतानंत द्रव्य समूह में मेरी "मेरेपने" की मान्यता वर्तती थी, उसमें से पूर्वकथित तर्क, आगम, युक्ति, अनुमान एवं स्वानुभव द्वारा मेरे निर्णय में ऐसा दृढ़ विश्वास जम गया है कि इन सब का जाननेवाला ऐसा जीव द्रव्य वह मैं हूँ और ये सभी ज्ञेय तत्त्व मेरे से भिन्न होने से वे मैं नहीं हूँ, वे उपेक्षा रूप से मेरे जानने में आते हुए मात्र परज्ञेय हैं। लेकिन अब कठिनता यह है कि जिसको मैंने "मैं" के रूप में विश्वास में लिया है उसमें भी अनेकता होने से मैपना स्थापन करने में कठिनता उत्पन्न हो रही है, उसका समाधान कैसे हो?

## भेदविज्ञान की महिमा

इस समस्या के समाधान का उपाय आचार्य श्री अमृतचन्द्र देव ने समयसार के कलश १२९-१३०-१३१ में निम्नानुसार वर्णन किया है :—

यह साक्षात् संवर वास्तव में शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि से होता है और वह शुद्धात्म तत्त्व की उपलब्धि भेदविज्ञान से ही होती है, इसलिये वह भेदविज्ञान अत्यन्त भाने योग्य है ॥१२९॥

यह भेदविज्ञान अच्छिन्न धारा से (जिसमें विच्छेद न पड़े ऐसे अखण्ड प्रवाह रूप से) तब तक भाना चाहिये, जब तक ज्ञान परभावों से छूटकर ज्ञान-ज्ञान में ही (अपने स्वरूप में ही) स्थिर हो जावे ॥१३०॥

जो कोई सिद्ध हुए है, वे भेदविज्ञान से सिद्ध हुए हैं; जो कोई बंधे है, वे उसी के (भेदविज्ञान के ही) अभाव से बंधे हैं ॥१३१॥

उपर्युक्त आगम वाक्यों से हमको हमारी समस्या का समाधान भी प्राप्त होता है, और साथ ही पुरुषार्थ भी जाग्रत होता है कि मेरी समस्या को सुलझाने का मात्र एक ही उपाय है कि निज आत्मारूपी स्वज्ञेय तत्त्व में ज्ञान में आनेवाली परस्पर विरुद्ध अनेकताओं को भेदज्ञानपूर्वक समझू।

अतः इन सबमें स्व तथा पर की दृष्टिपूर्वक ही समझना यानी भेदज्ञान करना कार्यकारी हो सकता है। इन सब अनेकताओं को भी गंभीरता से समझने की चेष्टा करता है।

## अनेकताओं के विभागीकरण पूर्वक स्वतत्त्व की खोज

उपर्युक्त अनेकताओं का विभागीकरण किया जावे तो वे सब मूलतः मात्र दो विभागों में बांट देने योग्य हैं। एक तो द्रव्य और दूसरा पर्याय अर्थात् एक तो स्थाई भाव (द्रव्य, सामान्य अंश स्वभाव) दूसरा पलटता हुआ भाव (पर्याय, विकारी-निर्विकारी भाव) ये दोनों ही भाव मात्र स्व आत्म तत्त्व में ही देखने हैं एवं विश्लेषण करने योग्य हैं, क्योंकि दोनों ही भाव आत्मा के अस्तित्व में ही हैं, अतः वे आत्मा के हैं और आत्मा में ही उपस्थित रहेंगे।

## पर्याय के ज्ञानपूर्वक त्रिकाली ज्ञायकभाव की खोज

आत्मार्थी को फिर प्रश्न खड़ा होता है कि हमको तो आत्मा में मात्र विकारी एवं निर्विकारी भाव अर्थात् अनेक प्रकार के पलटते हुये भावों के अतिरिक्त कोई

प्रकार के अन्य भाव अर्थात् किसी भी स्थाई भाव का अस्तित्व ही नहीं दीखता तो भेदज्ञान किसमें करे?

उत्तर :- यह बात सत्य है कि इस बहिर्दृष्टि अर्थात् बहिरात्मा जीव को, जिसने अनादिकाल से परज्ञेयों के साथ ही प्रेम अर्थात् मैपने का सम्बन्ध बना रखा है, उसका ज्ञान मात्र बाह्य की ओर ही सन्मुख रहता है, कभी भी स्व की खोज करने के लिये स्व की ओर मुड़ा ही नहीं है। इसलिए इसके ज्ञान में स्थाई भाव, नहीं पलटनेवाला भाव अनादि काल से अव्यक्त अर्थात् अपरिचित ही रहा है। इस ही कारण इस जीव का ज्ञान अभी तक उन पलटते हुये भावों को ही, स्व के रूप में जानता चला आ रहा है। अतः श्रद्धागुण भी उन्हीं को स्व मानता चला आ रहा है। आगम में ऐसे जीव को पर्यायमूढ कहा है। यथा—

"पज्जयमूढा हि परसमयाः" प्रवचनसार गाथा ९३।

फलस्वरूप यह पर्यायमूढ जीव पर्याय में अपनापना मानने के कारण उन भावों में अच्छे लगनेवाले भावों को रोके रखना चाहता है और बुरे लगनेवाले भावों को हटा देना चाहता है, लेकिन वे भाव तो मात्र एक समय मात्र की आयु लेकर जन्मते और मरते रहते हैं अर्थात् उत्पाद और व्यय करते रहते हैं, इसकी इच्छानुसार न तो रुकते हैं और न हटते ही हैं। इसी कारण यह निरंतर दुःखी-दुःखी ही बना रहता है, अतः आत्मार्थी जीव का कर्तव्य है कि सत्समागम एवं आगम अभ्यास के द्वारा त्रिकाली भाव का अपने आप में अस्तित्व एवं स्वरूप समझे, क्योंकि कोई भी विषय सर्वप्रथम समझ में अर्थात् स्थूलज्ञान में आ जाने के बाद ही उस पर चिन्तन विचार,

मनन चलता है तत्पश्चात् उस विषय का निर्णय पक्का होकर अनुमानपूर्वक ज्ञान में स्थान बना लेता है अर्थात् विश्वास में आ जाता है। उसके बाद ही उस विषय की श्रद्धा पक्की हो पाती है, उसका ज्ञान भी उस विषय को श्रद्धा के अनुसार ही देखता व जानता है।

उसीप्रकार सर्वप्रथम इन क्षण-क्षण में जन्ममरण (उत्पाद, व्यय) करनेवाले भावों के साथ अपनेपन का संबंध मानने के कारण उत्पन्न होनेवाली अशांति (दुःख) को दूर करने की अंदर में जिज्ञासा जाग्रत होती है उस त्रिकाल एकरूप स्थाई रहनेवाले भाव को खोजने की अंदर में तीव्र आवश्यकता का अनुभव करता है और यह विश्वास जाग्रत हो जाता है कि त्रिकाल एकरूप बने रहनेवाले भाव अर्थात् द्रव्यस्वभाव के साथ अपनेपन का संबंध जोड़ने से ही मेरे को शांति प्राप्त हो सकेगी। इन क्षण-क्षण में पलटते भावों के साथ अपनेपन का प्रेम तो मेरे को अशांति ही प्रदान करेगा। अतः मुझे मेरा त्रिकालीभाव जिसको आगम में ज्ञायकभाव के नाम से कहा है। उसको समझकर उसमें अपनापन स्थापन करूँ तो वह स्थाई ज्ञायकभाव हमेशा एकरूप ही रहने से, स्थाई शांति का प्रदाता होगा।

ऐसी तीव्र जिज्ञासा खड़ी होने पर वह आत्मार्थी सत्समागम, युक्ति एवं आगम के माध्यम से उस अव्यक्त त्रिकाली ज्ञायकभाव को समझने का पुरुषार्थ करता है। पक्का निर्णय कर अपने अनुमान ज्ञान में अव्यक्त को व्यक्त करके पूर्ण श्रद्धावान होता है। पक्के निर्णय एवं अनुमान ज्ञान में स्पष्ट हो जाने पर जैसे-जैसे श्रद्धा दृढ होती जाती है, ज्ञान की भी पर सन्मुखता ढीली पड़ जाती है। कुछ ही समय में ज्ञान स्वसन्मुख होकर उस स्थाई भाव, अकर्ता स्वभावी ज्ञायकभाव में अपनापन स्थापन करता है। इससे

सिद्ध भगवान को प्रगट हुए आनन्द का नमूना रूप स्वाद चखकर, यथार्थ श्रद्धावान होकर, मोक्षमार्गी अर्थात् सम्यग्दृष्टि बन जाता है।

इसप्रकार अव्यक्त त्रिकाली भाव को अपने अनुभव में व्यक्त करके इन अस्थाई, पलटते हुये भावों के प्रति प्रेम-अपनापन, टूट जाने से और सहज ही उपेक्षा वर्तने के कारण वे क्रमशः निर्बल पड़ते जाते हैं। अर्थात् विकार रहित होते-होते, पूर्ण निर्विकारी होकर, यह पर्याय भी त्रिकाली भाव के साथ ही सम्मिलन प्राप्त कर स्थाई शांति प्राप्त कर लेती है। अर्थात् सिद्धदशा प्राप्त कर लेती है। इस ही मार्ग का नाम साक्षात् मोक्षमार्ग है। यह मार्ग ही आत्मारथी जीवों को अनेक-अनेक प्रकार के अपने-अपने चिंतन, मनन के माध्यम से प्राप्त होता है। इस ही कारण सारी जिनवाणी में इस ही मार्ग को प्राप्त करने के उपायों का अनेक-अनेक अपेक्षाओं से अनेक-अनेक प्रकार से कथन किया है। इससे प्रत्येक आत्मारथी किसी भी प्रकार यह मार्ग प्राप्त कर पूर्ण सुखी हो जावे, यही श्री गुरु का करुणाभरा महान-महान उपकार है।

## तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन

उपरोक्त मोक्षमार्ग का प्रारंभ "यथार्थ श्रद्धा अर्थात् सम्यकदर्शन के बिना नहीं होता। इसीलिये भगवत् कुंदाकुंदाचार्य देव ने अष्टपाहुड में कहा है कि "दंसणमूलो धम्मो" आदि आदि। यही कारण है कि श्रद्धान अर्थात् समझ को सही करना ही सबसे पहले आवश्यक कर्तव्य है और इसीलिये सर्वप्रथम अपने आत्मा के यथार्थ स्वरूप को समझकर उस त्रिकाली भाव में अपनापन स्थापन करना ही

एकमात्र कर्तव्य है। ऐसा समझकर यह श्रद्धा जाग्रत हो कि मेरा भी त्रिकाली भाव वर्तमान में ही सिद्ध जैसा ही है। ऐसी श्रद्धा उत्पन्न होते ही आत्मदर्शन हो जाने के कारण पर्याय में रहनेवाले विकारी निर्विकारी भावों का ज्ञान यथार्थ हो जाता है। इसीको सम्यग्ज्ञान कहते हैं साथ ही विकारी भावों का अभाव करके निर्विकारी भावों को उत्पन्न करने का प्रयास प्रारंभ को जाता है, इसही का नाम सम्यक्चारित्र है। सारांश यह है कि श्रद्धा यथार्थ-सच्ची हो जाने के बाद वही ज्ञान सम्यक्ज्ञान हो जाता है तथा उस ही मार्ग पर चलने का पुरुषार्थ ही सम्यक्चारित्र है। अतः इन तीनों की एकता को ही जिनवाणी में मोक्षमार्ग कहा गया है।

तत्त्वार्थ सूत्र में कहा भी है "सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः" इस ग्रंथ का प्रारंभ ही इसी सूत्र से किया गया है, तथा मोक्षमार्ग का प्रारंभ भी सम्यग्दर्शन से ही होता है। इसके बाद दूसरा सूत्र है "तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यक्दर्शनम्"। उसके बाद ही सूत्र आता है "जीवाजीवा स्र व बन्धसंवर निर्जरा मोक्षास्तत्वम्"। इन सबसे निष्कर्ष निकलता है कि सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये, अपने त्रिकाली भाव में अहंपना स्थापन करना चाहिए। सात तत्वों के स्वरूप को यथार्थ समझे बिना अर्थात् अपने द्रव्य और पर्यायों की यथार्थ स्थिति समझे बिना, हम अपने अंदर मोक्षमार्ग का प्रारंभ नहीं कर सकेंगे। अतः हमको सातों तत्वों के स्वरूप को यथार्थ समझना ही चाहिये।

## सात तत्त्वों के श्रद्धान द्वारा भेदज्ञान

उपरोक्त सात तत्त्व जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष हैं। उनमें आस्रव और बंध तत्त्व के विशेष भेद पुण्य और पाप को मिलाने से वे ही नव तत्त्व एवं नव पदार्थ हो जाते हैं। अव्यक्त आत्मा का दर्शन करने के लिये अर्थात् आत्मोपलब्धि के लिये हमको भेदज्ञान के साधक ऐसे इन सात तत्त्व अथवा नव तत्त्वों को विस्तारपूर्वक भली प्रकार समझना चाहिये। पुण्य, पाप दोनों आस्रव तत्त्व के ही भेद हैं। अतः अभी हम उन दोनों का आस्रव में ही समावेश मानकर सात तत्त्वों के माध्यम से ही चर्चा करेंगे।

सर्वप्रथम हम इन सातों के निम्नप्रकार विभागीकरण पूर्वक आत्मा को समझने का प्रयास करेंगे।

१. द्रव्य और पर्याय के भेद से,
२. हेय, ज्ञेय और उपादेय के भेद से,
३. स्वज्ञेय-परज्ञेय के भेद से
४. सात तत्त्वों की आत्मोपलब्धि में उपयोगिता।

इसप्रकार इस विषय को विस्तार पूर्वक समझने का प्रयास करेंगे।

इन सातों तत्त्वों को अनेक भेदपूर्वक समझने के पूर्व यह दृष्टिकोण स्पष्ट रहना चाहिये कि ये सातों तत्त्व आत्मा के ही हैं। अतः इनको आत्मा में ही देखना चाहिये। कहा भी है "तस्य भावस्तत्त्व" "तद्भाव सो तत्त्व" आदि-आदि अर्थात् आत्मा के तत्त्वों को आत्मा में ही देखना चाहिये।

यहाँ प्रश्न होता है कि जिनवाणी में ऐसा भी तो कथन है कि द्रव्यकर्मों का आत्मा में आना सो आस्रव, आत्मा के



साथ उनका बंधन वह बंध, तथा द्रव्यकर्मों का आना रूक जाना, संवर और कर्मों का आत्मा से दूर हो जाना निर्जरा, तथा कर्मों के सर्वथा अभाव को मोक्ष कहा गया है। अतः इस कथन की संधि उपरोक्त कथन से कैसे बैठे?

उत्तर:- यह कथन भी एक अपेक्षा सत्य है। यह अज्ञानी आत्मा के संसारभ्रमण के कारणों में निमित्त नैमित्तिक संबंध का ज्ञान कराने की अपेक्षा उपचार से किया गया है। उसका यथार्थ मर्म क्या है? उस पर चर्चा आगे करेंगे।

जैनदर्शन का यह तो एक निर्विवाद मूलभूत सिद्धान्त है कि कोई भी द्रव्य अथवा उसकी किसी भी पर्याय में, अन्य द्रव्य अथवा अन्य द्रव्य की कोई भी पर्याय, कुछ भी नहीं कर सकती। इस सिद्धान्त को सर्वदा एवं सर्वत्र मुख्य रखकर हर एक कथन का निष्कर्ष निकालना है। अतः हमको इन सात तत्त्वों के मर्म समझने के लिये इन सातों तत्त्वों को आत्मा में ही देखना है, आत्मा में ही खोजना है, आत्मा के अंदर ही विश्लेषण करके समझना है।

## १. द्रव्य, पर्याय के भेद से सात तत्त्व

द्रव्य, पर्याय के माध्यम से जीव तत्त्व को समझने के पूर्व यह समझना आवश्यक है कि जीव द्रव्य में तथा जीव तत्त्व में क्या अन्तर है?

समाधान:- विकारी निर्विकारी पर्यायों सहित जीव को जीव द्रव्य कहा गया है अर्थात् द्रव्य पर्यायों के समुदायरूप प्रमाण के विषयभूत जीव को जीव द्रव्य कहते हैं। उसके यथार्थ मर्म के बिना छह द्रव्यों के समुदाय रूप अनंत द्रव्यात्मक लोक में से अपने आप का भिन्न अस्तित्व ही

ज्ञान की पकड़ में नहीं आवेगा। अतः अनंत द्रव्यों से भेदज्ञान पूर्वक अपने आप में अपना अस्तित्व विश्वास में लाने के लिये गुण पर्यायात्मक जीव द्रव्य का ज्ञान अत्यन्त उपकारी है। लेकिन जिस विकारी-निर्विकारी पर्यायो सहित जीव द्रव्य का जब आत्मज्ञान के लिये अभ्यास किया जाये, तब उस ही जीव की विकारी-निर्विकारी पर्यायों तो आस्रव संवर आदि तत्त्वों में समावेश हो जाती है। अतः जीव द्रव्य में से पर्यायांश आस्रव, बंध संवर, निर्जरा, मोक्ष निकाल देने से, इन पर्यायों के अतिरिक्त जो भी बाकी रहता है, वह ही सात तत्त्वों का जीव तत्त्व है। अन्य शब्दों में कहा जावे तो इसी अपेक्षा से उक्त पर्यायों से रहित मात्र स्थाई भाव, अनादि अनंत एकरूप रहनेवाला भाव अर्थात् ध्रुवांशवाला जीव ही जीव तत्त्व है। क्योंकि इस जीव की पर्यायों के भेद में पांचों तत्त्वों का समावेश हो जाता है, इसप्रकार ध्रुवांश एवं पर्यायांश मिलाने पर दोनों का समूह वही जीव द्रव्य है। अतः जीव का ध्रुव एकरूप रहनेवाला भाव ही जीवतत्त्व है। उस ही में अपनेपन की स्थापना करने से जीव को शांति प्राप्त हो सकती है, क्योंकि जो तीनों काल एकरूप ही रहता है, पलटता नहीं है, मात्र उस एक का ही आश्रय करने से यानी अपनापन स्थापन कर लेने पर उपयोग को अन्य स्थान पर जाने का अवकाश ही नहीं रहता। उपयोग की पलटन का अभाव ही तो निराकुलता है, शांति है, सुख है। अतः यह ही एकमात्र परम उपादेय उत्कृष्ट ध्येय है, यही एक प्राप्तव्य होने से आत्मार्थी का जीवनाधार है।

उपरोक्त जीव तत्त्व के अतिरिक्त जितना जो कुछ भी बच गया, वह सब ही इस आत्मा के लिये अजीव तत्त्व में गर्भित हो जाता है, समस्त अजीव द्रव्य तो अजीव

तत्त्व में आ ही जाते हैं, लेकिन इस आत्मा के अतिरिक्त जितने भी अन्य जीव द्रव्य हैं वे भी सब जीव द्रव्य होते हुये भी इस आत्मा की अपेक्षा अजीव तत्त्व में ही गर्भित हो जाते हैं, अर्थात् उनके संबंध में भी जैसा अन्य अजीव द्रव्यों में परपना माना हुआ है, वैसा ही इन सबमें भी अपने से पर होने से वे सब जीव भी पर ही हैं। अतः उन सबका भी समावेश एक मात्र अजीव तत्त्व में ही आ जाता है, इसप्रकार अजीव तत्त्व की यथार्थ जानकारी प्राप्त कर, उनमें परपने की श्रद्धा जाग्रत कर, जो अभी तक उनमें अपनेपने की मान्यता करता चला आ रहा है, वह छोड़कर उन सब के कार्यों में हस्तक्षेप करनेवाला मानने से दुखी हो रहा था, उसका अन्त आ जाना चाहिये, उन सबसे कर्तव्य के भार से निर्भर हो जाना चाहिये।

इसप्रकार मात्र जीव, अजीव तत्त्व का ही यथार्थ, ज्ञान-श्रद्धान होने पर ही आत्मा को एकदम हल्का होकर निर्भर हो जाने से श्रद्धाजन्य अत्यन्त शांति प्राप्त हो जाती है। अभी तक पर का कुछ सुधारने बिगाड़ने का अभिप्राय रहने से निरंतर चिन्ताग्रस्त रहता था तथा पर द्रव्य मेरा कुछ बिगाड़ सुधार कर दूँगे ऐसी मिथ्या मान्यता के कारण निरंतर भयाक्रांत होकर आकुलित रहता था, उन सब का अभाव होकर शांति प्राप्त हो जाती है।

उपरोक्त कहे गये आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये पांचो ही तत्त्व इस जीव की स्वयं की ही पर्यायें हैं। अतः इन पर्यायों को हेय, उपादेय के ज्ञानपूर्वक समझना चाहिये तथा हेय का अभाव कर, उपादेय पर्याय को प्राप्त करने का उग्र पुरुषार्थ जाग्रत करना चाहिये। फलस्वरूप संपूर्ण विकारों का अभाव होने पर पर्याय भी स्वयं द्रव्य जैसी ही

हो जाती है और अपने ही स्वतत्त्व त्रिकाली भाव में लीन होकर एकमेक होकर अनंत काल तक आत्मानंद में ऐसी गर्क हो जाती है कि बाहर ही नहीं निकलती अर्थात् द्रव्य पर्याय एकमेक हो जाते हैं।

इसप्रकार जीव तत्त्व, अजीव तत्त्व को द्रव्यांश के माध्यम से एवं आस्रव बंध संवर निर्जरा और मोक्ष पांचों तत्त्व, पर्यायांश के द्वारा समझते हुये एक अपने त्रिकाली ज्ञायक भाव स्वतत्त्व में ही अपनापन स्थापन कर श्रद्धा में सबके प्रति उपेक्षाभाव प्रगट करना ही एक मात्र कर्तव्य है।

## २. हेय, ज्ञेय, उपादेय के भेद से सात तत्त्व

उपरोक्त सात तत्त्वों में से, जीवतत्त्व ज्ञेय तो है ही, साथ ही परम उपादेय भी है, लेकिन प्रमाणवाला जीव द्रव्य तो एकमात्र ज्ञेय ही है, हेय-उपादेय भी नहीं है, मात्र उपेक्षणीय ज्ञेय है। आस्रव एवं बंध तत्त्व तो हेय ही हैं, उन ही के विशेष भेद पुण्य, पाप भी हेयतत्त्व के ही अवयव होने से हेय ही हैं, उनमें पुण्यतत्त्व को आगम में कहीं-कहीं किसी अपेक्षा से कथंचित् उपादेय भी कहा है, उसकी चर्चा निश्चय-व्यवहारनय के प्रकरण में अलग से करेंगे। यहाँ तो निर्विकारी पर्याय की अपेक्षा से सभी प्रकार की विकारी पर्यायें अर्थात् आस्रव-बन्ध को हेयतत्त्व में ही लिया गया है। संवर एवं निर्जरा पर्याय एकदेश उपादेय है तथा मोक्ष पर्याय सर्वथा उपादेय है। इसप्रकार हेय, ज्ञेय, उपादेय के भेद से सात तत्त्वों को भलेप्रकार समझकर, विश्वास करना चाहिए। एक मात्र जीवतत्त्व में ही अपनापन स्थापन कर अर्थात् वह जीवतत्त्व में ही हैं, ऐसा अहंपना स्थापन करना चाहिए। तथा अन्य जितने भी अजीवतत्त्व हैं,

उनको पर मानकर उनके प्रति अत्यन्त उपेक्षाबुद्धि खड़ी करके साम्यभाव प्राप्त करना कर्तव्य है। अन्दर उठनेवाले हेय भावों का स्वजीवतत्त्व के आश्रयपूर्वक क्रमक्रम से अभाव कर उपादेय तत्त्वों में क्रमशः वृद्धि प्राप्त करके सर्वथा उपादेय अवस्था की प्राप्ति द्वारा अनंत सुखी होकर अमर हो जाना चाहिए। यही हेय-ज्ञेय-उपादेय के माध्यम से सात तत्त्वों की यथार्थ समझ का फल है।

### ३. स्वज्ञेयपरज्ञेय के भेद से सात तत्त्व

सामान्यतया समस्त ज्ञेय पदार्थों में स्वज्ञेय, परज्ञेय का वर्गीकरण भी भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से किया जाता है। पहला दृष्टिकोण तो छह द्रव्यों के समूह रूप लोक में से सभी द्रव्यों से भिन्न अपने अस्तित्व को छानटने के लिये निर्णय किया जाता है। इस अपेक्षा से समस्त विकारी-निर्विकारी पर्यायों सहित अनंत गुण का समूह रूप अपना स्वद्रव्य, स्वज्ञेय माना जाता है। यह प्रमाण ज्ञान का विषय होता है, जिसको भेदज्ञान प्रणालि में प्रमाण का द्रव्य कहा जाता है। इस अपेक्षा का सबसे बड़ा उपकार यह है कि अपने द्रव्य के अतिरिक्त यह जीव अन्य द्रव्यों में जैसे स्त्री, पुत्र, मकान, जायदाद आदि दूरवर्ती एवं शरीर, कर्म आदि निकटवर्ती अन्य द्रव्यों में अनादि से अपना अस्तित्व मानता चला आ रहा है अर्थात् ये मेरे हैं और मैं इनका हूँ, ऐसी मिथ्या मान्यता के द्वारा इनके परिवर्तनों को अपने अनुकूल करने की चेष्टा करने में जीवन लगाता चला आ रहा है, उन सभी को आत्मा से अन्य तथा मात्र परज्ञेय मान लेने पर उनके परिणमनों के प्रति उपेक्षाबुद्धि उत्पन्न हो जाती है। फलतः तत्संबंधित अशांति से बच जाता है अर्थात् आत्मोपलब्धि के लिए कुछ पात्रता प्रगट कर लेता

है। संक्षेप में कहो तो इसप्रकार का भेदज्ञान प्राप्त कर यह जीव प्रमाणरूप द्रव्यों से संबंध तोड़कर मात्र स्वद्रव्य में ही अपने-आपको मर्यादित कर लेता है। प्रमाणरूप द्रव्यों से भेदज्ञान किए बिना कभी किसी को अपने विकारी-निर्विकारी पर्यायों से भेदज्ञान उत्पन्न करना असंभव है। इसप्रकार इस अपेक्षा में प्रमाणरूप स्वद्रव्य तो स्वज्ञेय है और बाकी अन्य सभी परज्ञेय होने से, अत्यन्त उपेक्षा करने योग्य है, ऐसी मान्यता, विश्वास श्रद्धा उत्पन्न करना ही इस अपेक्षा का उद्देश्य है।

दूसरा दृष्टिकोण विकारी-निर्विकारी पर्यायों के बीच छुपा हुआ जो सदा शाश्वत एकरूप रहनेवाला स्थाई ज्ञायकभाव है, उसको पहिचानकर उसमें अहंपना "मैपना" स्थापन करना है। इस अपेक्षा में स्थाई एकरूप रहनेवाले ज्ञायकतत्त्व को स्वज्ञेय कहकर इसके प्रति प्रेम व आकर्षण उत्पन्न कराना है। उस स्थायी ज्ञायकभाव के अतिरिक्त, जो कुछ भी स्वद्रव्य के गुण व पर्यायों का समस्त परिकर है, उस को ही पर बनाकर परज्ञेय कहकर उन सबके प्रति आकर्षण, प्रेम तथा अपनेपन का अभिप्राय छुड़ाना है। तथा उनके रक्षण आदि की चिन्ताओं से मुक्त कर आत्मा को अकर्ता, ज्ञायकस्वभावी सिद्ध करके निर्भार कराने का प्रयास किया गया है। इस दशा को प्राप्त जीव को ही आत्मोपलब्धि पूर्वक सम्यग्दर्शन का उदय होकर, प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय आनन्द की अनुभूति प्रगट हो जाती है। यहां से ही मोक्षमार्ग प्रारंभ हो जाता है। यह दृष्टिकोण अध्यात्म का प्राण है। इस दृष्टिकोण को अपनाये बिना किसी को भी मोक्षमार्ग का प्रारंभ ही नहीं होता। इस अपेक्षा में जिस त्रिकाली ज्ञायकभाव को, स्वज्ञेय कहकर उसके प्रति आकर्षण उत्पन्न कराकर अपने ज्ञान (उपयोग) को स्वज्ञेय के सन्मुख करने

की प्रेरणा दी गई है; उसकी उपलब्धि द्रव्य दृष्टि के द्वारा ही होती है। वह ज्ञायकभाव द्रव्यार्थिकनय का ही विषय है। उस ज्ञायकभाव के अतिरिक्त, समस्त परज्ञेय, जिसमें अभी तक अहंपना अपनापना मानकर दुःखी होता चला आ रहा है, उसके प्रति आकर्षण समाप्त करया गया। तथा अपने ज्ञान (उपयोग) की उनके प्रति सन्मुखता छोड़ाकर, उसी ज्ञान को आत्मसन्मुख कराया जाता है। समस्त परज्ञेय पर्यायार्थिक-नय का विषय कहा जाता है और वह सब परिवर्तनशील होने से उपेक्षणीय ही रहता है।

द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक नय का स्वरूप एवं उसके ज्ञान की आत्मोपलब्धि में उपयोगिता, आदि के बारे में चर्चा आगे करेंगे।

उपरोक्त समस्त चर्चा एकमात्र श्रद्धा अर्थात् मान्यता सही करने की अपेक्षा से की गयी है। अभीतक यह जीव अपने ही स्वयं के सच्चे स्वरूप को नहीं समझ पाने के कारण जो अपने नहीं हैं तथा कभी भी अपने हो नहीं सकते, उनको अपना मानकर उनही के रक्षण, पोषण आदि में अनेक जीवन बिताता चला आ रहा है। उसको श्री गुरु सच्चे मार्ग दिखाकर इसके स्वयं के सच्चे स्वरूप का ज्ञान कराकर एवं जिनको अबतक अपना मानता था, उन सबके प्रति परपना सिद्ध करके इसकी मिथ्या मान्यता बदलकर, सच्ची मान्यता, विश्वास, श्रद्धा उत्पन्न करते हैं। "जिनको अभी तक अपना मानता चला आ रहा था वे तेरे नहीं हैं और हमने बताया है वही स्वज्ञेय मात्र ही एक तू है" ऐसी श्रद्धा उत्पन्न कराई गई है। इस ही सच्ची

मान्यता को सम्यग्दर्शन, सम्यग्श्रद्धा आदि अनेक नामों से जिनवाणी में सम्बोधित किया गया है।

सारांश यह है कि उपरोक्त समस्त कथन श्रद्धाप्रधान है, मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ८० पर कहा भी है कि - "यहाँ वर्णन तो श्रद्धान का करना है, परन्तु जानेगा तो श्रद्धान करेगा, इसलिए जानने की मुख्यता से वर्णन करते हैं "

## सम्यक् श्रद्धा के साथ, सम्यक् चारित्र का अविनाभावी संबंध

यथार्थ श्रद्धा हो जाने पर आचरण भी तदनुसार हुए बिना रह ही नहीं सकता। जैसे हमने हमारे किसी परिचित व्यक्ति को अभी तक हमारा परम मित्र मान रखा था, लेकिन यथार्थ में वह मित्र नहीं वरन् शत्रु का मित्र था। उसके कारण उत्पन्न की गई अनेक-अनेक विपत्तियों को मैं हमेशा सहन करता चला आ रहा था। अवसर पाकर मेरे परम हितैषी व्यक्ति ने अनेक प्रकार के उपाय करके मेरे को इस समस्त षडयंत्र का भंडाफोड़ कर दिया। तथा मेरे को सिद्ध करके बता दिया कि यह व्यक्ति तेरा मित्र नहीं, तेरे शत्रु का मित्र है। उसके कारण ही तेरे को अनेक-अनेक विपत्तियाँ सहन करनी पड़ रही है। उसके उपदेश से जब मेरे को यह विश्वास जम जावे-श्रद्धा में बैठ जावे कि सचमुच यह व्यक्ति मेरा मित्र नहीं है, वरन् शत्रु ही है। ऐसा विश्वास जम जाने के बाद उस व्यक्ति के साथ संबंध तोड़ने के लिए क्या मुझे किसी से शिक्षा लेनी पड़ेगी? वरन् उस व्यक्ति के साथ जो भी मेरा व्यवहार होगा। वह उसके साथ संबंध तोड़ने का व्यवहार ही होगा।



ठीक इसीप्रकार आत्मार्थी जीव को परम उपकारी श्रीगुरु के उपदेश द्वारा जब यह विश्वास जम जाता है कि अभी तक मैंने अपने को अपना मानना भूलकर, जो अपने कभी नहीं थे और न अपने हो सकते हैं, उनको मेरा मानकर उन्ही का रक्षण-भरण-पोषण आदि में लगा रहता आया हूँ। इस ही कारण अनादि काल से दुःखी होता चला आ रहा हूँ। लेकिन अब समझ में आने के बाद यह विश्वास में बैठ गया कि मैं तो सबसे भिन्न एकमात्र अत्यन्त निर्भर अकर्ता स्वभावी, आनन्दस्वरूपी, त्रिकाल एकरूप रहनेवाला ज्ञायक आत्मा हूँ, अन्य जितने भी मेरे ज्ञान में ज्ञात हो रहें हैं वे सब मेरे से अन्य, मात्र स्व के माध्यम से परज्ञेय के रूप में ज्ञान में ज्ञात हो जाते हैं तो भी मेरे साथ उनका मात्र उपेक्षणीय ज्ञाता ज्ञेय संबंध है। उसके विपरीत मेरे ज्ञायकभाव के साथ तो मेरा तन्मय होकर जाननेरूप संबंध है। ऐसा विश्वास जाग्रत हो जाने पर उस आत्मार्थी का उन उपेक्षणीय समस्त पररूप परिकर के साथ कैसा व्यवहार रहेगा यह किसी को बताना नहीं पड़ेगा। बल्कि उस आत्मार्थी का उन सबके साथ उपेक्षारूप, हेयरूप अंतरंग आचरण ही होगा उन सब के साथ संबंधों का अभाव होने रूप आचरण ही यथार्थ में सच्चा व्यवहार है। उसी को जिनवाणी में व्यवहार सम्यक्चारित्र संज्ञा प्राप्त है। इस ही सब का कथन चरणानुयोग के ग्रन्थों में संग्रहीत है। इस ही प्रक्रिया को निश्चयचारित्र एवं उसके साथ ही वर्तनेवाले शुभभाव एवं तदनुकूल बाह्य आचरण को व्यवहार चारित्र के माध्यम से कथन किया गया है। इसका विस्तार से विवेचन समझने के लिये प्रवचनसार ग्रन्थ की चरणानुयोग सूचक चूलिका का अभ्यास करना आत्मार्थी का कर्तव्य है। आचार्य माणक्यनंदि ने परीक्षामुख पंचम परिच्छेद

के सूत्र १ में कहा है कि "सम्यग्ज्ञानरूपी प्रमाण का फल तत्संबंधी अज्ञान के नाश के साथ-साथ जानी हुई हेय, उपादेय एवं ज्ञेय वस्तु के संदर्भ में क्रमशः त्याग, ग्रहण एवं उपेक्षा (माध्यस्थभाव, उदासीनभाव) है।"

उपरोक्त समस्त कथन से यह स्पष्ट है कि उपरोक्त प्रकार से सात तत्त्वों की यथार्थ समझ प्राप्त किए बिना, अपने त्रिकाली ज्ञायकभाव का स्वरूप समझ में नहीं आ सकता, तथा उसकी समझ के बिना, तथा पर्याय की यथार्थ स्थिति समझे बिना, अपनी वर्तमान दशा का अभाव कर, पूर्णदशा प्राप्त करने का मार्ग ही ज्ञान की पकड़ में नहीं आ सकता। यथार्थ मार्ग ज्ञान में आये बिना, उसपर आचरण तो हो ही कैसे सकता है? अतः उपरोक्त प्रकार से यथार्थ समझ प्राप्त कर, अपने त्रिकाली भावरूपी स्वज्ञेय में अपनापन स्थापन कर, समस्त परज्ञेयों के प्रति परपना श्रद्धा में दृढ़ करना चाहिये तथा अपनी आत्मपरिणति की परसन्मुखता हटाकर, स्वसन्मुख करने का महान पुरुषार्थ प्रगट करना चाहिये। ऐसी दशा प्राप्त जीव का ज्ञान सम्यक् होकर, यथार्थ भेदज्ञान का उदय होता है। और उस के द्वारा वह पर्याय में वर्तती अवस्थाओं में हेय, उपादेय बुद्धिपूर्वक विकार का अभाव करता-करता निर्विकारी दशा प्राप्त कर लेता है। यही तत्त्वार्थ श्रद्धान की आत्मोपलब्धि में महान उपयोगिता है।

## पर्याय उपेक्षणीय कहने से स्वच्छन्दता की संभावना का निराकरण

अपनी आत्मा को संक्षेप में समझा जावे तो एक ओर तो अनंत गुणों का समुदाय, त्रिकाल एक सरीखा, सिद्ध

सदृश स्वभाववाला, शास्त्रीय भाषा में परमपारिणामिक भावरूप "द्रव्यांश"। दूसरी ओर है क्षण-क्षण में उत्पाद, व्यय को प्राप्त, अनेक प्रकार से बदलता हुआ "पर्यायांश"। इन दोनों अंशों को मिलाकर मेरा पूरा आत्मा है। इन दोनों में से अपनापन स्थापन करने के लिये कौन से अंश को अपना मानूं? क्षण-क्षण में नये-नये रूप धारण करता हुआ समय-समय जन्म-मरण करनेवाला पर्यायांश, वह अहंपना स्थापन करने योग्य कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता। ध्रुव एकरूप रहनेवाला द्रव्यांश है, वही एकमात्र अहम्पना अर्थात् "मैं" मानने योग्य है। अतः सहज ही उस ही में मेरे को आन्तरिक प्रेम उमड़ेगा। उस ही में तन्मय होने की सहजवृत्ति उठे बिना रह ही नहीं सकती। ऐसी स्थिति में पर्यायांश श्रद्धा में सहज ही उपेक्षणीय हुए बिना रह ही नहीं सकता, क्योंकि श्रद्धा तो एक में ही मैपना स्थापन कर सकती है। इसप्रकार आत्मानुभव प्राप्त ज्ञानी जीव की श्रद्धा में तो मात्र एक परम पारिणामिकभावरूप स्थाई द्रव्यांश ही हमेशा अपेक्षा योग्य रहता है। पर्यायांश हमेशा उपेक्षणीय ही रहता है। यह सब कथन श्रद्धा की मुख्यता से है। साथ ही रहनेवाला सम्यक् दशा को प्राप्त ज्ञान, श्रद्धा ने जिसमें अहम्पना स्थापन किया है ऐसे उस द्रव्यांश को परम उपादेयरूप जानता है। श्रद्धा ने जिसमें परपना स्थापन कर जिससे प्रेम करना छोड़ दिया है, ऐसे पर्यायांश को उपेक्षित रूप में जानता हुआ प्रवर्तता है। उसी समय चारित्रगुण भी, श्रद्धा ज्ञान ने जिसको स्व-अपना माना है उस ही में आचरण अर्थात् लीन होने की चेष्टा करने लगता है। पूर्व की अज्ञानदशा में पर्यायांश में श्रद्धा ने अपनापना मान रखा था, तब उसमें ही आचरण एकमेक होने की चेष्टा करता था। इसप्रकार जबतक पर्याय में पूर्ण

निर्विकारी दशा प्राप्त नहीं हो जाती, तबतक सम्यकज्ञान, वीतरागी अंश में उपादेयबुद्धि तथा रागांश में हेयबुद्धि सहित प्रवर्तता ही रहता है। अतः उस ज्ञानी आत्मार्थी को कभी स्वच्छन्दता होने का अवकाश ही नहीं हो सकता। ज्ञानी का ज्ञान इतना विवेकपूर्ण हो गया है कि वह रागांश मात्र को ही जहर के समान मानते हुए पूर्ण वीतरागता प्रगट करने के लिये लालायित हो रहा है। ऐसे उस ज्ञानी को पर्याय में होनेवाले रागपोषक विकल्पों में स्वच्छन्दता उत्पन्न करनेवाला प्रेम उत्पन्न हो, यह असम्भव है। इस स्थिति को प्राप्त जीव को ही यथार्थ में पर्याय उपेक्षणीय होती है। लेकिन कोई अज्ञानी राग में रुचि रखनेवाला ऐसे कथनों को, अपने रागपोषण के लिए हथियार बनाकर दुरुपयोग करे तो यह तो उस जीव का ही महान दोष है, कथन का तो कोई दोष है नहीं।

पंडित टोडरमलजी साहब ने मोक्षमार्ग प्रकाशक में पृष्ठ २९२ पर कहा भी है कि—

"जैसे गधा मिश्री खाकर मर जावे तो मनुष्य तो मिश्री खाना नहीं छोड़ेगा। उसीप्रकार विपरीतबुद्धि अध्यात्मग्रन्थ सुनकर स्वच्छन्द हो जाये तो विवेकी तो अध्यात्मग्रन्थों का अभ्यास नहीं छोड़ेगा। इतना करे कि जिसे स्वच्छन्द होता जाने, उसे जिसप्रकार वह स्वच्छन्द न हो उसप्रकार उपदेश दे। तथा अध्यात्मग्रन्थों में भी स्वच्छन्द होने का जहाँ-तहाँ निषेध करते हैं। इसलिये जो भलीभाँति उनको सुने वह तो स्वच्छन्द होता नहीं, परन्तु एक बात सुनकर अपने अभिप्राय से कोई स्वच्छन्द हो तो ग्रन्थ का तो दोष है नहीं, उस जीव ही का दोष है।"

आगे कहते हैं कि:—

"तथा अध्यात्म ग्रन्थों से कोई स्वच्छन्द हो, सो वह तो पहले भी मिथ्यादृष्टि था, अब भी मिथ्यादृष्टि ही रहा। इतना ही नुकसान होगा कि सुगति न होकर कुगति होगी। परन्तु अध्यात्म उपदेश न होने पर बहुत जीवों के मोक्षमार्ग की प्राप्ति का अभाव होता है और इसमें बहुत जीवों का बहुत बुरा होता है, इसलिये अध्यात्म उपदेश का निषेध नहीं करना।"

इसप्रकार सम्यग्दर्शन प्राप्त करने में तत्त्वार्थश्रद्धान की उपयोगिता को भलीप्रकार समझना चाहिए। इन तत्त्वों का यथार्थ भाव समझने में यह जीव अनेक प्रकार की भूले करता है, उसके कारण उसकी अनादि से चली आ रही मिथ्या मान्यता दूर नहीं होती। मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रंथ के निम्न पृष्ठों पर तत्त्वार्थश्रद्धान संबंधी भूलों को निकालने के लिए विशद विवेचन किया है।

पृष्ठ क्रमांक निम्नानुसार हैं -

(१) पृष्ठ ७८ से ८४ तक (२) ८० से ८४ तक (३) २२४ से २३३ तक (४) ३१५ से ३१७ तक, (५) ३१८ से ३१९ तक (६) ३२० से ३२२ तक

आत्मार्थी जीव को उन सब कथनों को मनोयोगपूर्वक पढ़कर अपने को जिसप्रकार की भूल हो वह निकालकर यथार्थ मार्ग प्राप्त करने के लिये पुरुषार्थ करना चाहिये।

अतः "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" सूत्र को मुख्य रखकर उक्त समस्त कथनों का विशेष रुचिपूर्वक अध्ययन करना चाहिए ।

## द्रव्यकर्म, भावकर्म की मुख्यता से सात तत्त्वों का ज्ञान

जिनवाणी में व्यवहार की मुख्यता से, निमित्तप्रधान कथन में सात तत्त्वों का स्वरूप इसप्रकार भी बताया गया है कि जीवतत्त्व तो यह जीव स्वयं है ही। अजीवतत्त्व में बाकी के पांचों द्रव्य आ जाते हैं। आस्रवतत्त्व में द्रव्यकर्मों का आत्मा से संबंध करने के लिये आत्मा में आना बताया गया है।

उसीप्रकार उन द्रव्यकर्मों का आत्मा के साथ एक-क्षेत्रावगाह रूप से बंध जाना, उसको बंधतत्त्व कहा गया है। उन कर्मों का आत्मा के साथ संबंध होना रुक जाना, संवर तत्त्व कहा है। एवं बंधे हुए कर्मों का आत्मा से संबंध छूटना, निर्जरा तत्त्व कहा गया है। तथा सभीप्रकार के द्रव्य कर्मों का आत्मा से संबंध पूर्णरूप से छूट जाना ही मोक्षतत्त्व है। इसप्रकार के कथन व्यवहारप्रधान कथन में आते हैं। अतः समझना पड़ेगा कि दोनों कथनों का आपस में क्या संबंध है।

उपरोक्त दोनों प्रकार की परिभाषाएं परस्पर विरोधी-सी दीखती हुई भी, किंचित् भी विरोधी नहीं हैं। दोनों ही परिभाषाएं एक ही उद्देश्य को सिद्ध करती हैं। जैसे पहली परिभाषा में आत्मा के अन्दर विकारीभावों की उत्पत्ति को आस्रवतत्त्व कहा है और दूसरी परिभाषा में आत्मा जब विकारी भाव उत्पन्न करता है, तब उसका निमित्त करके कर्म परमाणुओं का आत्मा के साथ संबंध करने के लिये आना होता है, उसको आस्रवतत्त्व कहा गया है। पहली परिभाषा में आत्मा के विकारीभावों की उत्पत्ति नहीं हुई उसको संवर तत्त्व कहा है। और दूसरी परिभाषा में जब

आत्मा विकारी भाव नहीं करता तब सहज ही कर्मों को आने का रूक जाने को संवर तत्त्व कहा गया है। अगर गंभीरता से गहरे चिंतन से विचार करे तो बहुत सीधी बात लगेगी कि कर्मों के आने में मूलकारण तो आत्मा की भूल ही थी। अतः आत्मा को कर्मों का आना रोकने के लिये अपनी भूल को छोड़ देना चाहिये, ताकि उसको आत्मानंद का शीघ्र ही लाभ प्राप्त हो सके। इसप्रकार दोनों प्रकार की परिभाषाओं के द्वारा एक ही प्रयोजन सिद्ध कराया गया है।

इस विषय का स्पष्ट ज्ञान कराने के लिये जिनवाणी में इन तत्त्वों को द्रव्य व भाव के भेद से स्पष्ट किया है—द्रव्यास्रव तथा भावास्रव, द्रव्यसंवर तथा भावसंवर आदि भेदों के माध्यम से दोनों परिभाषाओं के विषय को समझाया गया है। आत्मा के भावों में अर्थात् पर्याय में होनेवाले विकारी, निर्विकारी दशा का ज्ञान भाव के नाम से कहा गया है। जैसे भावआस्रव, भावबंध, भावसंवर, भावनिर्जरा एवं भावमोक्ष इसीप्रकार इन भावों का निमित्त पाकर द्रव्यकर्मों का आत्मा के साथ संबंध करने के लिये आना, बंधना एवं आना रुकना, तथा बंधे हुवें का आंशिक छूटना तथा सर्वथा छूटना, इनको द्रव्यआस्रव, द्रव्यबंध, द्रव्यसंवर, द्रव्यनिर्जरा, द्रव्यमोक्ष के रूप में कहा गया है। इनमें से भावतत्त्व जीवद्रव्य में होते हैं और द्रव्य तत्त्व अजीव द्रव्य में होते हैं। भावकर्म की उत्पत्ति में द्रव्यकर्म का तथा द्रव्यकर्म के बंध में भावकर्म का निमित्तपना कैसे है इस पर चर्चा आगे करेंगे। आगम में आत्मा के भावों को "भावकर्म" एवं कर्मपुद्गलों के परिणमन को द्रव्यकर्म के नाम से समझाया गया है। इसलिये आगे हम भी इनको उपरोक्त "भावकर्म" एवं "द्रव्यकर्म" के नाम से ही समझायेगे।

## श्रद्धाप्रधानता एवं ज्ञानप्रधानता से सात तत्त्वों की समझ

उपरोक्त सात तत्त्वों को श्रद्धा की प्रधानता एवं ज्ञान की प्रधानता से अलग-अलग करके समझना चाहिए। श्रद्धा प्रधानता अर्थात् अपनापन-अहम्पना स्थापन करने की मुख्यता से समझना। ज्ञानप्रधान अर्थात् जानने की मुख्यता से समझना।

श्रद्धाप्रधानता में तो द्रव्यार्थिकनय का विषयभूत परमपारिणामिक त्रिकाली ज्ञायक भाव एकरूप रहनेवाला भाव, जिसको ऊपर जीवतत्त्व, स्वज्ञेयतत्त्व आदि नामों से कहा गया है; वह एक ही मात्र स्वपना स्थापन करने योग्य अर्थात् स्वमानने योग्य है। वह ही श्रद्धा का श्रद्धेय एवम् अहमरूप अनुभव में आनेवाला स्वतत्त्व है। मेरे स्वयं के अंदर ही उत्पन्न होनेवाली मेरी स्वयं की विकारी निर्विकारी पर्यायें हैं वे सभी मेरे स्वजीवतत्त्व की अपेक्षा परतत्त्व हैं। इस परतत्त्व में आस्रव एवं बंधतत्त्व के नाम से सभी विकारी पर्यायों का एवं संवर, निर्जरा और मोक्षतत्त्व के नाम से सभी निर्विकारी पर्यायों का समावेश हो जाता है। अजीवतत्त्व एवं मेरे अतिरिक्त सभी जीवमात्र तो प्रत्यक्ष पर हैं ही। इसप्रकार अहम्पना स्थापन करने की अपेक्षा मात्र एक परमपारिणामिकभावरूप ज्ञायकभाव ही श्रद्धा की प्रधानता से जीवतत्त्व है। वह मैं स्वयं हूँ। एवम् मेरे अतिरिक्त जीवतत्त्व, अजीवतत्त्व, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा एवं मोक्षतत्त्व सभी पर हैं अर्थात् मेरे में उनका अस्तित्व ही नहीं है।

उपरोक्त सात तत्त्वों में से श्रद्धा की प्रधानता से बताया गया जीवतत्त्व तो सर्वोत्कृष्ट ज्ञेय होने से आश्रय करने



योग्य तथा अपेक्षा करने योग्य है ही साथ ही ज्ञान प्रधानता में भी परम उपादेय तथा स्वज्ञेय भी है। बाकी रहे समस्त ज्ञेय मात्र परज्ञेय एवं उपेक्षणीय ही हैं।

आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष, इन पाचों में से, आस्रव एवं बंधतत्त्व तो हेय ही हैं। इनको तो सभी छोड़ने योग्य मानते हैं। संवर एवं निर्जरा दोनों उपादेय तत्त्व हैं, जिनका प्रारंभ सम्यदर्शन प्राप्ति के साथ ही हो पाता है। मोक्षतत्त्व तो परम उपादेय अर्थात् प्राप्तव्य तत्त्व है। इसप्रकार जीवतत्त्व तो श्रद्धेय भी है, स्वज्ञेय भी है एवम् परम उपादेय भी है। तथा अजीव एवं अन्य सभी जीवद्रव्य तो मात्र ज्ञेय ही हैं। आस्रव-बंध तत्त्व हेय हैं तथा संवर निर्जरा उपादेय तत्त्व हैं और मोक्षतत्त्व तो परम उपादेय है।

परीक्षामुख के पंचम परिच्छेद के सूत्र-१ में निम्नप्रकार कहा है कि:—

**"अज्ञाननिवृत्तिहानोपादानोपेक्षाश्च फलम्"**

अर्थ :- प्रमाण (सम्यग्ज्ञान) का फल अज्ञाननिवृत्ति तथा त्याग, ग्रहण एवं उपेक्षा है। डॉ. हुकमचंद भारिल्ल ने परमभावप्रकाशक नयचक्र पृ. २११ पर इसके स्पष्टीकरण में लिखा है कि — "यहाँ पर सम्यग्ज्ञानरूप प्रमाण का फल तत्संबंधी अज्ञान के नाश के साथ जानी हुई हेय, उपादेय एवं ज्ञेय वस्तु के सन्दर्भ में क्रमशः त्याग, ग्रहण एवं उपेक्षा (माध्यस्थभाव, उदासीनभाव) बताया गया है।

उपरोक्त कथन से स्पष्ट है कि हेयतत्त्व से छोड़ने योग्य अर्थात् अभाव करने योग्य एवं उपादेय तत्त्वों को ग्रहण करने अर्थात् प्राप्त करने योग्य मानना चाहिये। अन्य जीव एवं अजीव ज्ञेय तत्त्वों को उपेक्षणीय स्वीकार कर, उनके

प्रति अपनत्वबुद्धि अहम्बुद्धि छोड़ देनी चाहिये। ऐसा स्वीकार कर एकमात्र स्वतत्त्व में अपनत्व मानकर समस्त ज्ञेयों के प्रति उपेक्षाभाव जाग्रत कर, हेय का त्याग, उपादेय के ग्रहण का पुरुषार्थ ही एकमात्र कर्तव्य है।

इसी संबंध में विशेष जानने योग्य बात यह भी है कि आस्रव बंध तत्त्व के विशेष भेदरूप पुण्य तत्त्व एवं पाप तत्त्व मिलाकर नौ तत्त्व, नौ पदार्थ भी कहे गये हैं। अतः ये दोनों ही हेयतत्त्व के ही विशेषभेद होने से यथार्थ में तो छोड़ने योग्य ही हैं। लेकिन मोक्षमार्ग प्राप्त जीव (सम्यग्दृष्टि जीव) को पुण्यतत्त्व मोक्षमार्ग का सहचारी निमित्त देखकर कभी-कभी कहीं कहीं उसको कथंचित् उपादेय भी कहा गया है। तथापि यह पुण्य तत्त्व आस्रवरूपी हेयतत्त्व का ही विशेष होने से यथार्थतया तो मोक्षमार्गी को बाधक ही है। लेकिन यथापदवी वह मोक्षमार्ग के साथ रहते हुए भी मोक्षमार्ग का घात नहीं करता। इस अपेक्षा उस शुभभाव को भी हेय नहीं कहकर कथंचित् उपादेय भी कह दिया जाता है। इसीप्रकार अज्ञानी जीव को भी पुण्यभाव अर्थात् कषाय की मंदता का भाव मंद आकुलता उत्पादक होने से तथा सुगति का कारण होने से पापभाव की अपेक्षा पुण्यभाव को कथंचित् उपादेय कहा जाता है। लेकिन पापभाव तो सर्वथा एवं सर्वदा ही कषाय की तीव्रता होने से अत्यन्त हेय ही है। यही कारण है कि आस्रव, बंध हेयतत्त्व होने पर भी मंदता तीव्रता के भेद देखकर, तथा कथंचित् किसी जीव को किसी अपेक्षा कभी-कभी इस हेयतत्त्व में भी उपादेयता का ज्ञान कराने के लिये ही पुण्य और पाप दो तत्त्व और बढ़ाकर, इन दोनों का समावेश कर, नव तत्त्व के रूप में उनका ज्ञान

कराया है। लेकिन श्रद्धा की अपेक्षा तो पुण्यभाव भी ज्ञानी को हेयरूप ही रहता है।

## सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः

"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" सूत्र का तात्पर्य यह है कि ऊपर कहे गये अनेक कथनों के माध्यम से अपने त्रिकाली परमपरिणामिक रूप ज्ञायकभाव में "मैपना-अहंपना" का निर्णय कर के अपनी श्रद्धा में भी उस ही में अहंपना स्थापन करना चाहिये। साथ ही बाकी सभी द्रव्यभावों में सहज ही परपना आ जाता है। तथा उन सबके प्रति उपेक्षाभाव जाग्रत हो जाता है, यही सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन प्राप्त जीव का उसी समय का ज्ञान स्व को स्व तरीके जानकर उसमें जमने-रमने योग्य एवं पर के प्रति उपेक्षा करने योग्य जानता है। उसी समय का चारित्र गुण भी, जिसको स्व जाना है, उसमें अपनी परिणति को एकमेक (लीन) करने की चेष्टा करता है। तथा जिनको हेय जाना है। उनके प्रति आकर्षण छोड़ता हुआ उपेक्षित रहता है। ऐसी स्थिति में अन्य ज्ञेय तो उपेक्षित हो ही जाते हैं। यह ही सहज स्वाभाविक सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की एकता है और यह ही सच्चा मोक्षमार्ग है। इसे आचार्य उमास्वामी ने "सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः" रूप में कहा है।

उपरोक्त स्थिति प्राप्त जीव की सहज ही संसार, शरीर, भोगों के प्रति आसक्ति घट जाती है। ज्ञान-वैराग्य की उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है तथा चरणानुयोग कथित

समस्त आचरण का स्वाभाविकरूप से पालन होने लगता है। इस ही का उपदेश की भाषा में चरणानुयोग में "आचरण करना चाहिये" इस भाषा में कथन किया गया है। इस आचरण को जिनवाणी में व्यवहारचारित्र के नाम से भी संबोधित किया है। इसी स्थिति को निश्चय चारित्र व व्यवहार चारित्र का सुमेल कहा गया है। यही सच्चा स्वाभाविक मोक्षमार्ग है और इसी को प्रवचनसार में दोनों की मैत्री भी कहा गया है।

## निश्चयसम्यग्दर्शन के साथ देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा, अनिवार्य कैसे?

प्रश्न होता है कि देव-शास्त्र-गुरु तो परद्रव्य है, वे तो मात्र परलक्षी ज्ञान के ही विषय बनते हैं। अतः उनकी ओर लक्ष्य करने से तो आत्मलक्ष्य छूट जाता है और राग की उत्पत्ति होती है। अतः इनकी अनिवार्यता कैसे बनती है?

उत्तर :- निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होने के साथ-साथ ही, ज्ञान स्वलक्षी होकर आत्मदर्शन कर लेता है। तत्समय ही श्रद्धा ने उसमें ही "मैपना" स्थापन कर लिया। लेकिन छद्मस्थ का ज्ञान तो अकेले स्वलक्ष्य में ज्यादा काल ठहरता नहीं और परलक्षी हुये बिना रहता नहीं। फिर भी श्रद्धा ने तो एक बार जिसको स्व के रूप में वरण कर लिया, वरमाला डाल दी, वह फिर उसको छोड़ती नहीं। अतः निश्चय सम्यग्दर्शन बने रहते हुये भी ज्ञान पर- लक्षी होकर कार्य करने लग जावे तो भी श्रद्धा की "मै पने" की स्वीकारता का कार्यरूप परिणमन, तो परलक्षी ज्ञान के समय भी वर्तता ही रहता है। फलतः वह परलक्षी ज्ञान के

समय भी, पर में एकमेक नहीं होता और अलग-अलग सा रहता हुआ कार्यशील रहता है। इसीकारण ज्ञानी का प्रयास रहता है कि परलक्षी ज्ञान भी ऐसे ज्ञेयों में नहीं फंसा रहे, जिससे स्वलक्ष्य दूर हो जावे, अतः वह प्रयास पूर्वक भी अपने परलक्षी ज्ञान को भी अपने स्वलक्ष्य के नजदीक रखने के लिये प्रयत्नशील रहता है। पुनः-पुनः आत्मानंद का स्वाद लेने की उत्कंठावाला रहता है। सर्वज्ञता एवं वीतरागता प्राप्त करने को उत्सुक वर्तता है। सर्वज्ञ वीतराग दशा को प्राप्त-अरहंत, सिद्ध देवों को तथा उसी मार्ग पर चलने का मार्ग बतानेवाली जिनवाणी को एवं उस ही मार्ग में प्रवर्तते हुए आचार्य, उपाध्याय एवं मुनिराजों के प्रति अत्यन्त विनयवान् होकर सहज रूप से स्वयं वर्तता ही रहता है। साथ ही अपनी भावना के पोषण के लिये, अपने परलक्षी उपयोग को सीमित रखने का निरंतर प्रयासरत वर्तता रहता है। इन्ही कारणों से देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा, विनय, भक्ति आदि एवं सात तत्त्वों की श्रद्धा एवं अध्ययन आदि को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा गया है। अगर यह श्रद्धा वीतरागता का पोषण नहीं करती हो, तो यथार्थ में वह व्यवहार कहलाने योग्य भी नहीं होती।

## निश्चय-व्यवहार का स्वरूप

इस पर प्रश्न होता है कि निश्चय-व्यवहार में अंतर क्या है ?

उत्तर:- निश्चयनय, व्यवहारनय की विस्तृत चर्चा तो आगे नय के प्रकरण में करेंगे। यहाँ तो मात्र इतना समझ लेना है कि निश्चयनय एवं व्यवहारनय का स्वरूप क्या है? मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रंथ के पृष्ठ २४८-२४९ में निश्चय-व्यवहार की परिभाषा दी है—

"मोक्षमार्ग दो नहीं है, मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार का है। जहाँ सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग निरूपित किया जाय सो निश्चय मोक्षमार्ग है, और जहाँ जो मोक्षमार्ग तो है नहीं, परन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त है व सहचारी है, उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहा जाय सो व्यवहार मोक्षमार्ग है। क्योंकि निश्चय व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है। सच्चा निरूपण सो निश्चय, उपचार निरूपण सो व्यवहार।"

उपचार का लक्षण आलापपद्धति सूत्र २१२ में कहा है कि—

"मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्तोपचारः प्रवर्तते"

अर्थः— मुख्य के अभाव में प्रयोजन तथा निमित्त के लिये उपचार का प्रवर्तन होता है। उपरोक्त आगम वाक्यों के आधार पर यह तो स्पष्ट हो गया कि व्यवहार सम्यग्दर्शन सच्चा सम्यग्दर्शन तो नहीं है, लेकिन उपचार मात्र से ही सम्यग्दर्शन कहा जाता है। अतः इसकी अनिवार्यता भी उपचार से ही है।

अब हमको समझना यह है कि उपरोक्त कहा गया व्यवहार मोक्षमार्ग, सम्यग्दर्शन में निमित्त कैसा है ? सहचारी कैसा है ? उपचार क्या है ? एवं प्रयोजन क्या सिद्ध होता है ?

## निश्चय के साथ व्यवहार मोक्षमार्ग का निमित्त, सहचारी एवं उपचारपना कैसे?

सम्यक्त्वसन्मुख जीव को सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति श्रद्धा एवं भक्तिभाव सहज ही प्रगट कैसे हो जाता है? इस विषय को समझ लेने से उस श्रद्धाभाव का सम्यग्दर्शन के साथ निमित्तपना एवं सहचारीपना कैसे है ? आदि सभी

बाते समझ में आज जावेंगी। इसको दृष्टान्त के माध्यम से समझेंगे। जैसे किसी दरिद्री पुरुष को लक्ष्मीवान् बनने के लिये उसके अंतर में सहज स्वाभाविक जो-जो प्रक्रिया होती है, वैसी ही प्रक्रियाएं सम्यक्त्वरहित जीव को सम्यक्त्व प्राप्त करने में होना स्वाभाविक ही हैं। सर्वप्रथम वह दरिद्री पुरुष, लक्ष्मी के अभाव में अपने को होनेवाली कठिनाइयों को अनुभव करता है और लक्ष्मीवान् को देखकर, लक्ष्मी के द्वारा प्राप्त हुई सुख-सुविधाओं के प्रति लालायित होता है। तब अपने अंतर में दृढ़ निश्चयी होता हुआ, लक्ष्मी प्राप्त करने के लिये तीव्रता से प्रेरित होता है। जब वह लक्ष्मी प्राप्त करने के पुरुषार्थ में संलग्न होता है, तब उसको बिना प्रेरणा के स्वाभाविक रूप से ऐसे विचार उत्पन्न होते हैं कि लक्ष्मी प्राप्त करने के लिये मुझे ऐसे व्यक्तियों से सम्पर्क करना चाहिये, जो लक्ष्मीवान् हो चुके हैं। अथवा अभी लक्ष्मी प्राप्त करने के पुरुषार्थ में संलग्न होकर कुछ सफलता भी प्राप्त कर चुके हैं। साथ ही वह ऐसे ही साहित्य का अध्ययन भी करे बिना नहीं रह सकेगा, जिसके द्वारा उसको लक्ष्मी प्राप्त करने के सुगम व सफल मार्ग का ज्ञान हो सके। साथ ही उसको ऐसे सफल व्यक्तियों के प्रति तथा ऐसे साहित्य के प्रति अंदर में सहज ही तीव्र बहुमान तथा आदरभाव रहता ही है तथा व्यवहार में भी प्रगट होता है।

इसीप्रकार आत्मारथी, जो मोक्ष प्राप्त करना चाहता है अर्थात् भगवान् बनना चाहता है, वह जीव सर्वप्रथम भगवान् बनने के लिये, भगवान् का स्वरूप समझकर उससे प्रगट होनेवाले लाभ को समझने का प्रयास करेगा। अपनी वर्तमान स्थिति को भी समझेगा। दोनों के मिलान के द्वारा, भगवान् बनने की सच्ची वास्तविक रुचि जाग्रत करेगा। ऐसा होने

पर ही भगवान बनने का वास्तविक पुरुषार्थ प्रारंभ होता है। ऐसा पुरुषार्थ करने में आनेवाली कठिनाइयों को सरल बनाने के लिये एवं तत्संबंधी बाधाओं को दूर करने के लिये वह उस मार्ग को बतलानेवाले साहित्य का अत्यन्त रुचि एवं आदरभावपूर्वक अध्ययन करेगा। उस मार्ग में आई कठिनाइयों को दूर कर जो स्वयं भगवान बन गये हैं, उनके प्रति अंदर से उत्कृष्ट आदरभाव आये बिना रह ही नहीं सकता। तथा जो उस मार्ग के द्वारा भगवान बनने के मार्ग में लगे हुए हैं और उस मार्ग की बाधाओं को दूर करते हुए हमसे आगे बढ़ चुके हैं। उनके प्रति, अपनी कठिनाइयों को भी दूर कर आगे बढ़ने के लिये अत्यन्त आदरभाव सहित आतुरतापूर्वक समागम करने का प्रयास करे बिना कैसे रह सकेगा ?

तात्पर्य यह है कि यह एक सहज स्वाभाविक प्रक्रिया है कि जिस व्यक्ति को जैसा बनना होता है, उसको सहज ही उसमें पारंगत पुरुषों के प्रति आदरभाव, पूज्यभाव आये बिना रह सकता नहीं, उस विषय के साहित्य को अध्ययन करे बिना भी रह सकता नहीं तथा अपने से विशिष्टता प्राप्त पुरुषों की आदरपूर्वक संगति प्राप्त करे बिना भी रह सकता नहीं।

इसीप्रकार आत्मार्थी जीव भी भगवान बनने की तीव्र लगन लगने के कारण भगवान दशा को प्राप्त परमात्माओं के प्रति, उस दशा को प्राप्त कराने की मार्गदर्शक जिनवाणी के प्रति, उसीप्रकार सफलता प्राप्त कर अपने से आगे बढ़ चुके ऐसे साधक पुरुषों के प्रति भूमिकानुसार उत्कृष्ट आदरभाव, विनयभाव, पूज्यभाव आये बिना नहीं रह सकता।



इन ही कारणों से देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन का निमित्त कहा गया है।

इसीप्रकार नव तत्त्वों की यथार्थ प्रतीति प्रगट हुये बिना किसी जीव को यथार्थ सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हो संकता। इस ही कारण नवतत्त्वों की यथार्थ श्रद्धाको भी सम्यग्दर्शन का निमित्त कहा गया है।

जिस आत्मार्थी को यथार्थ (निश्चय) सम्यग्दर्शन अर्थात् साक्षात् त्रिकाली ज्ञायकभाव में अहम्पना प्रगट होकर आत्मदर्शन प्राप्त हो गया हो, उसको भी आत्मज्ञता प्राप्त करने में आई कठिनाइयों का ज्ञान वर्तने के कारण, उन देव, शास्त्र, गुरु के प्रति भक्ति में सहज ही और ज्यादा प्रगाढ़ता आ जाती है एवं नव तत्त्वों की श्रद्धा एकदम पक्की प्रगाढ़ हो जाती है। जैसे-जैसे आत्मार्थी को सफलता प्राप्त होती जाती है, इन सब के प्रति उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती जाती है, इसी कारण इनको सम्यग्दर्शन के सहचारी भी कहा गया है।

आत्मज्ञता प्राप्त जीव को जो यथार्थ श्रद्धा उत्पन्न हुई, वह निश्चय सम्यग्दर्शन है। उसके साथ ये नवतत्त्व की श्रद्धा एवं देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा निमित्त होने के साथ-साथ सहचारी भी बने रहते हैं। लेकिन बाद में तो वह निश्चय के साथ बना रहकर भी उसको बाधा नहीं पहुँचाता इसलिए इसको उस निश्चय सम्यग्दर्शन का व्यवहार कहा है, और इस व्यवहारसम्यग्दर्शन को भी सम्यग्दर्शन के नाम से कहा जाता है।

हमारा लक्ष्य वीतरागता प्राप्त करने का है। यह व्यवहार सम्यग्दर्शन उसमें बाधक न होकर सहचारी बना रहता है। इसकारण इसको उपादेय भी कहा जाता है, लेकिन आत्मज्ञतारूप निश्चय सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के मूल उद्देश्य

में इसका उपयोग हो, तभी इसके साधकपने की संज्ञा सार्थक होगी अन्यथा अकेला व्यवहार सम्यग्दर्शन आत्मज्ञता प्राप्त नहीं करा सकता।

### प्रमाणनयैरधिगमः ।

तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है कि प्रमाण और नय के द्वारा वस्तु का यथार्थ ज्ञान होता है। हमारा मूल प्रयोजन तो अपने आत्मतत्त्व का यथार्थ ज्ञान करना है। समस्त द्वादशांग का कथन, वस्तुओं के स्वरूप-ज्ञान द्वारा उनको स्व-पर के विभागीकरण पूर्वक समझाने का है। उन सबका विभागीकरण प्रमाण नयादि के माध्यम से ही होता है।

स्वतत्त्व का स्वरूप समझकर मोक्षमार्ग प्रगट करने के लिए हेय-उपादेय का ज्ञान भी नयज्ञान के द्वारा ही होता है। हेय-उपादेय के ज्ञान द्वारा हेय की उपेक्षा कर, उपादेय में अपने-आपको समर्पित कर देने पर, नयादि के विकल्प भी आत्मोपलब्धि के समय समाप्त होकर आत्मार्थी आत्मदर्शन प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है। परीक्षामुख के पंचम परिच्छेद के सूत्र-१ में कहा भी है—

**"अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम्।"**

अर्थ:- "प्रमाण (सम्यग्ज्ञान) का फल अज्ञान-निवृत्ति तथा त्याग, ग्रहण एवं उपेक्षा है।" अतः हमको भी आत्मोपलब्धि के लक्ष्यपूर्वक जिनवाणी के कथन का मर्म समझने के लिए नयज्ञान का उपयोग आवश्यक है। इस दृष्टिकोण से हमको नयज्ञान के अभिप्राय को मनोयोगपूर्वक अवश्य समझना चाहिये।

## प्रमाण-नय के लक्षण

वस्तु के सामान्य अंश को ग्रहण करनेवाले ज्ञान के अंश को द्रव्यार्थिकनय और विशेष अंश को ग्रहण करनेवाले ज्ञान के अंश को पर्यायार्थिकनय कहा जाता है। तथा दोनों अंशों को एक साथ ग्रहण करनेवाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।

परीक्षामुख के परिच्छेद ४ के सूत्र-१ में कहा भी है—  
**"सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः"**

अर्थ- "सामान्य विशेषात्मक पदार्थ प्रमाण का विषय है।"

राजवार्तिक के अध्याय - सूत्र ३३ में नय का लक्षण बताया है—

"प्रमाण प्रकाशितार्थविशेष प्ररूपको नयः।"

अर्थ- "प्रमाण द्वारा प्रकाशित पदार्थ का विशेष निरूपण करनेवाला नय है।" आलापपद्धति में नय के स्वरूप को और भी स्पष्ट किया है—

"प्रमाणेन वस्तुसंग्रहीतार्थैकांशो नयः श्रुतविकल्पो वा ज्ञातुरभिप्रायो वा नयः। नानास्वभावेभ्यो व्यावृत्य एकस्मिन् स्वभावे वस्तु नयति प्राप्यतीति वा नयः।"

अर्थ-प्रमाण के द्वारा गृहीत वस्तु के एक अंश को ग्रहण करने का नाम नय है अथवा श्रुतज्ञान का विकल्प नय है अथवा ज्ञाता का अभिप्राय नय है अथवा नाना स्वभावों से वस्तु को पृथक करके जो एक स्वभाव में वस्तु को स्थापित करता है, वह नय है। स्वामी की अपेक्षा भी नय के ३ भेद कहे हैं। समयसार की हिन्दी टीका के मंगलाचरण में पण्डित जयचंदजी ने कहा है—

"शब्द, अर्थ, अरू ज्ञान, समय त्रय आगम गाये।"

शब्दनय, ज्ञाननय तथा अर्थनय (पदार्थनय) से भी नय के ३ भेद कहे हैं। कथन को शब्दनय, ज्ञान जिसको विषय बनावे, वह पदार्थ अर्थनय तथा विषय करनेवाले ज्ञान को ज्ञाननय कहते हैं। तीनों के स्वामी अलग-अलग हैं।

उपरोक्त कथनों से स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुस्वभाव समझने के लिये उपरोक्त पद्धति समझना आवश्यक है, क्योंकि हर एक वस्तु अपने-अपने स्वभाववाली तथा एकसाथ ही सामान्य-विशेषात्मक, अनंत गुणों के समुदायरूप है। उनमें से स्वपर के रूप में विभागीकरण करने के लिये नयज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।

## आगमशैली एवं अध्यात्मशैली

उपरोक्त नयों का प्रयोग जिनवाणी में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से अपेक्षाओं से किया गया है। इन दोनों ही अपेक्षाओं का प्रयोजन तो एकमात्र स्व-पर की मुख्यता से भेदज्ञान कराना है।

आगम में छह द्रव्यों की मुख्यता से और अध्यात्मरूप परमागम में आत्मद्रव्य की मुख्यता से कथन होता है। आगम की शैली में वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन मुख्य रहता है और अध्यात्मशैली में आत्मा के हित की मुख्यता रहती है। दोनों शैलियों में मूलभूत अन्तर यह है कि अध्यात्मशैली की विषयवस्तु आत्मा, आत्मा की विकारी-अविकारी पर्यायों और आत्मा से परवस्तुओं के संबंध मात्र है। आगमशैली की विषयवस्तु छहों प्रकार के समस्त द्रव्य, उनकी पर्यायों और उनके परस्पर के संबंध आदि

स्थितियाँ हैं। आगमशैली का प्रयोजन छह द्रव्यों के स्वरूप को समझाकर एक स्व आत्मा में स्वपना स्थापन कराकर, अन्य समस्त द्रव्यों को पर जान उनके प्रति परज्ञेयपने की श्रद्धा जाग्रत कर उपेक्षाबुद्धि प्रगट करना है। अध्यात्मशैली का प्रयोजन अपनी स्व आत्मा में ही उत्पन्न विकारी-निर्विकारी पर्यायों में अनित्यता की मुख्यता से पर पने की मान्यता पूर्वक हेयपना स्थापन कर उपेक्षाबुद्धि प्रगट करते हुए अपने ही त्रिकाली ध्रुव ज्ञायकभाव में स्वपना स्थापन कराना है। इस दृष्टिकोण को मुख्य रखकर नयों के प्रकरण को समझना चाहिए।

## नयज्ञान से लाभ

विश्व की व्यवस्था ही ऐसी है कि उसमें द्रव्य छह जाति के मिलकर अनंतानंत हैं तथा आत्मा में भी त्रिकाली ध्रुवस्वभाव भी है तथा अनित्य पर्यायभाव भी है। सब एक साथ ही हर एक समय विद्यमान हैं। साथ ही ज्ञान में भी हर समय सब ही आने योग्य हैं। जब ज्ञान की ओर देखते हैं तो क्षायिकज्ञान में तो यह सामर्थ्य है कि वह सबको एक साथ ही जान लेता है, अतः उस ज्ञान में विभागीकरण करने को कुछ रहता ही नहीं है। ऐसे ज्ञान का नाम ही प्रमाणज्ञान है। ऐसा ज्ञान हमको प्राप्त नहीं है। हम छद्मस्थों का क्षयोपशम ज्ञान तो सम्पूर्ण विश्व अथवा अपनी ही संपूर्ण आत्मा को भी एक समय में अपने ज्ञान का विषय नहीं बना सकता।

अतः जब वह ज्ञान एक वस्तु को जानने के सन्मुख होता है, तो अन्य वस्तुओं का अस्तित्व होते हुए भी ज्ञान के बाहर रह जाती है। इसीप्रकार अपनी आत्मा के ही

त्रिकाली भाव को जानता है, तब पर्यायों का अस्तित्व रहते हुए भी वे ज्ञान में नहीं आ पातीं। अतः हमारे ज्ञान को अनिवार्य हो जाता है कि वह किसी भी एक को मुख्य बनावे, उसी समय अन्य विषय गौण हो ही जाते हैं। इस ही प्रक्रिया का नाम नय है और यह अनिवार्य स्थिति है। इसी स्थिति को समझने का नाम नयज्ञान है। इसको समझे बिना स्व-पर का विभागीकरण संभव ही नहीं है। स्व-पर के विभागीकरणरूप भेदज्ञान के बिना मोक्षमार्ग ही संभव ही नहीं है। इन्हीं कारणों से नयज्ञान अत्यन्त उपयोगी है। आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार कलश में भेदज्ञान की निम्न शब्दों में महत्ता बताई है:-

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धाः ये किल केचन।  
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥१३१॥

श्लोकार्थ— जो कोई सिद्ध हुए है, वे भेदविज्ञान से सिद्ध हुए हैं, और जो कोई बंधे है, वे उसी के अभाव से बंधे हैं।

ऐसे भेदज्ञान को कबतक भाना चाहिए, यह भी कलश १३० में कहा है —

भावयेद्भेदविज्ञान मिदमच्छिन्नधारया।  
तावद्यावत्पराच्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठिते ॥१३०॥

श्लोकार्थ— यह भेदविज्ञान अच्छिन्न-धारा से (जिसमें विच्छेद न पड़े, ऐसे अखण्ड प्रवाह रूप से) तब तक भाना चाहिये जबतक (ज्ञान) परभावो से छूटकर ज्ञान ज्ञान में ही (अपने स्वरूप में ही) स्थिर हो जाये।

अतः नयज्ञान के द्वारा स्व को मुख्य रखकर उपादेयरूप से एवं पर को गौण करके हेय के रूप में समझना ही नय का परम उपकार है। इस ही कारण नयचक्र में स्व

को मुख्य करके जाननेवाले निश्चयनय को ही पूज्यतम कहा है, प्रमाण को नहीं। क्योंकि हमारा प्रयोजन तो मात्र निश्चयनय से सिद्ध होता है, प्रमाण चाहे क्षायिकज्ञान हो, लेकिन उसके द्वारा मेरा प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, अतः मेरे लिये तो वह अप्रयोजनभूत है। इसप्रकार अपना प्रयोजन साधने की दृष्टिपूर्वक नयज्ञान समझना आवश्यक है।

### नयों का प्रयोजन

अनंतानंत द्रव्यो एवं पर्यायो मे खोई हुई निज आत्मा को, सबके स्वभावो की पहिचान कराकर, उनमें से खोज कर, उसे प्राप्त करा देने का मार्ग बताना ही समस्त जिनागम का उद्देश्य है। उसकी पूर्ति का माध्यम नयज्ञान है। इसलिये नयज्ञान का तात्पर्य भी आत्मा को प्राप्त कराना अर्थात् अध्यात्म ही है। बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ५७ की टीका में अध्यात्म का अर्थ किया है

"अध्यात्मशब्दस्यार्थः कथ्यते:- मिथ्यात्वरागा दिसमस्त-  
विकल्पजालरूपपरिहारेण स्वशुद्धात्मन्यधि यदनुष्ठानं  
तदध्यात्ममिति "

अर्थ- "अध्यात्म" शब्द का अर्थ कहते हैं- मिथ्यात्व, राग आदि समस्त विकल्पजाल के त्याग से स्वशुद्धात्मा में जो अनुष्ठान होता है, उसे अध्यात्म कहते हैं। नयों के संबंध में भी यही दृष्टिकोण आलापपद्धति गाथा ३ में सिद्ध होता है-

"णिच्छयववहारणया मूलिमभेया णयाण सव्वाणं।  
णिच्छयसाहणहेऊ पज्जयदव्वत्थियं मुणह॥"

अर्थ- सर्व नयों के मूल निश्चय और व्यवहार - ये दो नय हैं। द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक ये दोनों निश्चय-व्यवहार के हेतु हैं।

उपरोक्त गाथा से फलित होता है कि आगम भी अध्यात्म का पूरक है, क्योंकि निश्चय-व्यवहार तो अध्यात्म के नय हैं और द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक मुख्यतः आगम के नय हैं। इस गाथा में आगम नयों को अध्यात्मनयों का हेतु कहा है। तात्पर्य स्पष्ट है कि सभी नयों का एवं कथनों का तात्पर्य तो आत्मोपलब्धि कराना ही है।

द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नय, दोनों नय वस्तुस्वरूप का ज्ञान कराते हैं। द्रव्य है प्रयोजन जिसका वह द्रव्यार्थिक नय है। पर्याय है प्रयोजन जिसका वह पर्यायार्थिक नय है। इन दोनों नयों के विषय अपरिवर्तनीय है अर्थात् द्रव्य हमेशा द्रव्य ही रहेगा, पर्याय हमेशा पर्याय ही रहेगी। अतः इन नयों का उद्देश्य वस्तु जैसी है, वैसी ही बताने का है। लेकिन जानने के समय अपनी रुचि के अनुसार ज्ञाता एक को मुख्य, एक को गौण रखते हुए जानता है। अतः इन दोनों नयों में जानने की अपेक्षा मुख्य-गौण व्यवस्था चलती है।

निश्चय-व्यवहारनय का प्रयोग आत्मोपलब्धि कराने के प्रयोजन की पूर्ति के लिये होता है। अतः इन नयों का प्रयोग अपने प्रयोजनसिद्धि के आधार पर मुख्य-गौण व्यवस्थापूर्वक चलता है। इन नयों के प्रयोग में अपने प्रयोजन सिद्धि के लिए पर्यायार्थिकनय के विषयों में भी जिसको प्रयोजनभूत समझेगा उसे मुख्य करके जानेगा, वही निश्चय होगा, अन्य सब व्यवहार अर्थात् उपेक्षणीय हो जावेंगे। इसीप्रकार द्रव्यार्थिकनय के विषयों में भी जो इसको प्रयोजनभूत होगा वही मुख्य होकर निश्चय होगा बाकी द्रव्यार्थिक का भी अन्य विषय सब गौण रहने से व्यवहार मानकर उपेक्षणीय हो जावेंगे।



इसप्रकार आगम-अध्यात्म के नयों में मूलभूत अंतर है। आगम का उद्देश्य मात्र ज्ञान कराना है तथा अध्यात्म का उद्देश्य प्रयोजन सिद्ध करना है। दोनों शैलियों का यह मूलभूत अंतर है। मुख्य-गौण व्यवस्था दोनों प्रकार के नयों में अनिवार्य है। प्रमाण में यह व्यवस्था नहीं है।

उपरोक्त दृष्टिकोण को मुख्य रखकर नयज्ञान के द्वारा जिनागम का रहस्य समझना चाहिये।

यहाँ हमारा उद्देश्य नयों के भेद-प्रभेदों के समझाने का नहीं है, यहाँ तो मात्र नयों का दृष्टिकोण समझाने का उद्देश्य है। इस संबंध की विस्तृत जानकारी के लिये डॉ. हुकमचंदजी भारिल्ल की "परमभावप्रकाशक नयचक्र" नामक पुस्तक का अभ्यास करना चाहिये। लगभग ४०० पृष्ठों की उक्त पुस्तक में इस विषय पर बहुत सुन्दर व विस्तृत विवेचन है।

कोई कहे कि हमारी बुद्धि नयों को समझने में कार्य नहीं करती तो क्या हमको मोक्षमार्ग प्राप्त नहीं होगा?

समाधान- ऐसा नहीं है। मोक्षमार्ग का मूल तो द्रव्य पर्याय का यथार्थ प्रकार से हेय-उपादेय का ज्ञान है। इन दोनों के ज्ञान के बिना तो मोक्षमार्ग का प्रारम्भ भी कैसे होगा ? इनको जानने के समय साधक को हेय-उपादेय व मुख्य-गौण करना नहीं पड़ता, हो ही जाता है। अतः इतना ज्ञान तो अवश्य होता ही है। नयज्ञान बहुत जटिल विषय नहीं है, अतः इसके नाम से डरकर दूर भागने की कोशिश, मोक्षमार्ग से दूर हटने के समान होगी। इतनी बात अवश्य है कि इस विषय की विस्तारपूर्वक जानकारी न भी हो तो भी आवश्यक जानकारी के बिना आत्मोपलब्धि का मार्ग समझना असंभव है। आत्मोपलब्धि के

काल में तो नयादि के विकल्प भी सब विलय हो जाते हैं। लेकिन उससे पूर्व आवश्यक भी है। नयचक्र की गाथा ६८ में कहा भी है-

"तच्चाणेषणकाले समय बुज्जेहि जुत्तिमग्गेण।  
णो आराहणसमये पच्चक्खो अणुहवो जहा।"

अर्थ- तत्त्वान्वेषण-काल में ही आत्मा युक्तिमार्ग से अर्थात् निश्चय-व्यवहार नयों द्वारा जाना जाता है, परन्तु आत्मा की आराधना के समय वे विकल्प नहीं होते, क्योंकि उस समय तो आत्मा स्वयं प्रत्यक्ष ही है।

## नयों के भेद-प्रभेद

आगम के मुख्य नयः- नैगम, संग्रह, व्यवहार- ये तीनों नय द्रव्यार्थिकनय के हैं। ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, एवभूत- ये चारों नय पर्यायार्थिकनय के हैं।

उपरोक्त नयों में द्रव्यार्थिकनय एवं पर्यायार्थिकनय मात्र एक आत्मद्रव्य की अपेक्षा नहीं समझना। आगम के नयों का कथन समस्त द्रव्यों की अपेक्षा से किया जाता है। उनका विषय समस्त द्रव्य व उनकी पर्यायें होती हैं।

आगम के नयों में आये व्यवहारनय का अर्थ अध्यात्म के व्यवहारनय से नहीं लगाना। आगम के व्यवहारनय का विषय अभेदरूप गृहीत वस्तुओं का परमाणु पर्यन्त भेद करना है। विशेष जानकारी के लिए "परमभावप्रकाशक नयचक्र" का अध्ययन करें।

अध्यात्मनय- अध्यात्म में प्रवेश करने से पूर्व द्रव्य, गुण, पर्याय का स्वरूप विस्तारपूर्वक समझना अत्यन्त आवश्यक है। जबतक "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" के माध्यम से जगत् के सभी द्रव्यों की व उनकी हर एक पर्याय की स्वतंत्रता

श्रद्धा में नहीं जागी, तबतक पर द्रव्यों के प्रति कर्ताबुद्धि छूट नहीं सकती। उसके बिना अध्यात्म में प्रवेश असंभव है। जबतक ऐसी श्रद्धा जाग्रत नहीं हो कि जगत में अकेला स्वआत्मा मैं ही हूँ, मेरी अपेक्षा मेरे तरीके किसी का अस्तित्व ही नहीं है। इसप्रकार सारे जगत् से संबंध तोड़कर अकेले अपने आत्मा में अनुसंधान करता है। तब सर्वप्रथम द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय का स्वरूप समझना आवश्यक हो जाता है।

द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नय की परिभाषा समयसार गाथा १३ की टीका में निम्नप्रकार से दी है:-

"तत्र द्रव्यपर्यायात्मके वस्तुनि द्रव्यं मुख्यतयानुभावयतीति द्रव्यार्थिकः, पर्यायं मुख्यतयानुभावयतीति पर्यायार्थिकः।"

अर्थ- द्रव्य-पर्यायस्वरूप वस्तु में जो मुख्यरूप से द्रव्य का अनुभव कराये, वह द्रव्यार्थिकनय है और जो मुख्यरूप से पर्याय का अनुभव कराये, वह पर्यायार्थिक नय है। यहां अनुभव का अर्थ ज्ञान समझना ।

जब ज्ञान का विषय द्रव्य हो तो द्रव्य की अनेक अवस्थाओं की अपेक्षा अनेक भेद पड़ जाते हैं। जैसे विकारी द्रव्य, अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय का विषय; शुद्ध द्रव्य, शुद्ध द्रव्यार्थिक का विषय आदि-आदि अनेक भेद पड़ जाते हैं। वक्ता अथवा साधक के अभिप्राय अनुसार द्रव्य को जिस रूप में ज्ञान का विषय बनाया जावे, उस को उसी नाम से कह दिया जाता है। इसप्रकार नय के अनेक नाम पड़ जाते हैं।

इसीप्रकार पर्यायार्थिकनय को भी जानना चाहिये। लेकिन पर्यायार्थिकनय का विस्तार द्रव्यार्थिकनय से भी बहुत ज्यादा है। पर्यायार्थिक का मुख्य विषय तो एक समयवर्ती

उत्पाद-व्यय रूप पर्याय है। लेकिन उस पर्याय से संबंधित जितने भी पदार्थ हैं, वे भी सब इसी नय के विषय होते हैं। तथा इस जीव की शरीर से संबंधित असमानजातीय पर्याय आदि तथा वक्ता अभेद द्रव्य में भेद करके भेदों को जाने तो वे सब भी पर्यायार्थिकनय के विषय होते हैं।

सारांश यह है कि एक अकेले त्रिकाली द्रव्य के अतिरिक्त जो कुछ भी ज्ञान के विषय बनते हैं, वे सब पर्यायार्थिकनय के विषय ही होते हैं। इसप्रकार पर्यायार्थिकनय का बहुत बड़ा विस्तार हो जाता है और विषयों की मुख्यता से पर्यायार्थिकनय के भी अनेक भेद हो जाते हैं। लेकिन गुणों को द्रव्यों से अभेद करके द्रव्य को विषय बनावे तो वही द्रव्यार्थिकनय का विषय हो जाता है। और भेद करके गुणों को विषय बनावे तो पर्यायार्थिकनय हो जाता है। नयों का प्रयोग मूलतः वक्ता अथवा ज्ञाता के अभिप्राय अनुसार होता है।

निश्चयनय-व्यवहारनय- ये दोनों नय अध्यात्म के ही नय हैं। इन नयों में प्रयोजन मुख्य रहता है, वस्तु मुख्य नहीं रहती। प्रयोजन तो एक मात्र वीतरागता है। उसकी सिद्धि के लिये जिस विषय को मुख्य बनाता है, वही प्रयोजनभूत होने के कारण निश्चय होता है और उसको जाननेवाली पर्याय को निश्चयनय कहते हैं। इससे अतिरिक्त जो भी विषय रह जाते हैं, वे सब उससमय गौण हो जाते हैं तथा उपेक्षणीय होने से सब व्यवहार हैं। उनको जाननेवाली पर्याय व्यवहार नय कही गई है। जैसे अनादि काल से चली आ रही परद्रव्यों के साथ एकत्वबुद्धि, कर्तृत्वबुद्धि का अभाव करने के प्रयोजनवश विकारी निर्विकारी पर्यायों सहित निज आत्मा मुख्य होता है तो वह निश्चय और इसको जाननेवाली पर्याय निश्चय नय कहलाती

है, अन्य सभी द्रव्य अपने ज्ञान में आते हुए भी गौण कर उपेक्षा करने से ही वीतरागता का प्रयोजन सिद्ध होगा। अतः उनको व्यवहार कहकर हेय कहा जाता है।

जब विकारी भावों का कर्तृत्व छुड़ाना होता है तो ज्ञानक्रिया आत्मा की स्वभावभूत क्रिया है, अतः उसको मुख्य करके निश्चय कहा जाता है। और पहले जिसको मुख्य और निश्चय बनाया था। उसी विकारी दशा को गौण कर उपेक्षणीय मानकर व्यवहार कह दिया जाता है और छोड़ने योग्य माना जाता है, जब पर्यायमात्र का कर्तव्य छुड़ाना हो, तब त्रिकाली को मुख्य करके निश्चय कहा जाता है और ज्ञान क्रिया भी गौण एवं व्यवहार होकर उपेक्षणीय हो जाती है। इसीप्रकार अन्यत्र भी समझना।

आलापपद्धति में निश्चय एवं व्यवहारनय का स्वरूप निम्न प्रकार दिया है—

अभेदानुपचरितया वस्तु निश्चयत इति निश्चयः।  
भेदोपचारतया वस्तु व्यवहयत इति व्यवहारः ॥

अर्थ— अभेद और अनुपचार रूप से वस्तु का निश्चय करना निश्चय है और भेद तथा उपचार रूप से वस्तु का व्यवहार करना व्यवहार है।

इन निश्चय-व्यवहार नयों के भी वक्ता एवं ज्ञान के अभिप्राय अनुसार अनेक भेद पड़ जाते हैं। व्यवहारनय के जो भेद पड़ते हैं, उनमें आत्मपरिणामों के साथ जो संबंध रखते हैं, उनको विषय बनानेवाली पर्याय को साधारणतया सदभूत कहते हैं तथा जो आत्मपरिणामों से संबंध नहीं रखते ऐसे विषयों को जाननेवाली पर्याय को असदभूत कहते

है। इनके भी उपचरित-अनुपचरित आदि अनेक भेद पड़ते हैं। उनकी विस्तृत जानकारी "परमभावप्रकाशक नयचक्र" से प्राप्त करें।

निश्चय-व्यवहारनय में मोक्षमार्ग मुख्य प्रयोजनभूत विषय है। इनका सम्यक प्रकार से उपयोग किये बिना कभी मोक्षमार्ग प्रारंभ भी नहीं हो सकता। अतः इन नयों के संबंध में विस्तार से चर्चा भाग-३ में की गई है। आत्मार्थी जीव को उसका अध्ययन करना प्रयोजनभूत है।

### निश्चय-व्यवहारनय एवं निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग में अंतर

उपरोक्त दोनों के अंतर को मोक्षमार्ग के लिये समझना बहुत आवश्यक है। क्योंकि नय तो ज्ञान की पर्याय है, उसका कार्य तो मात्र जानना ही है। मोक्षमार्ग तो श्रद्धा एवं चारित्रगुण की पर्याय है, श्रद्धा का कार्य है "अहंपना" स्थापन करना और चारित्रगुण का कार्य है श्रद्धा ने जिसको स्व मान लिया उस ही में तन्मय होना। अतः निश्चय-व्यवहारनय से निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग अलग ही है।

निश्चय मोक्षमार्ग एवं व्यवहार मोक्षमार्ग तो द्रव्य की परिणति है। उस परिणति को जानना वह ज्ञान का कार्य है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २५० पर कहा है कि - "प्रवृत्ति में नय का प्रयोजन ही नहीं है। प्रवृत्ति तो द्रव्य की परिणति है। वहाँ जिस द्रव्य की परिणति हो उसको उसी की प्ररूपित करें सो निश्चयनय, और उस ही को अन्य द्रव्य की निरूपण करें सो व्यवहारनय है ऐसे

अभिप्रायानुसार प्ररूपण से उस प्रवृत्ति में दोनों नय बनते हैं। कुछ प्रवृत्ति ही तो नयरूप है नहीं।”

उक्त कथन से स्पष्ट है कि मोक्षमार्ग तो द्रव्य की परिणति है, वह नय नहीं है। नय तो उस परिणति को जाननेवाली पर्याय है। दोनों में एक ही प्रकार के शब्द निश्चय-व्यवहार के उपयोग में आने से भ्रमित नहीं होना चाहिये। इस विषय का स्पष्टीकरण भी मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २४९ पर निम्नप्रकार से किया है—

“सो मोक्षमार्ग दो नहीं है, मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से है। जहाँ सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग कहा जाय, सो निश्चय मोक्षमार्ग है और जहाँ जो मोक्षमार्ग तो है नहीं, परन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त है व सहचारी है, उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहा जाय, सो व्यवहार मोक्षमार्ग है। क्योंकि निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है।”

इस कथन से स्पष्ट है कि मोक्षमार्ग तो द्रव्य की परिणति उसको निरूपित करनेवाली, जाननेवाली ज्ञान की पर्याय, वह नय है।

पृष्ठ २४१ पर और भी स्पष्ट किया है कि - “एक ही द्रव्य के भाव को उस स्वरूप ही निरूपण करना, सो निश्चयनय है। उपचार से उस द्रव्य के भाव को अन्य द्रव्य के भाव रूप निरूपण करना, सो व्यवहार है।”

इसप्रकार मोक्षमार्ग रूप से तो आत्मा स्वयं परिणमता है। अतः वह तो द्रव्य की परिणति है, उस वीतराग परिणति के साधन से मोक्ष प्राप्त होता ही है। उस परिणति को निश्चय मोक्षमार्ग कहा गया है। और वीतराग परिणति के साथ ही वर्तनेवाली रागपरिणति, जो स्वयं तो मोक्षमार्ग है नहीं, लेकिन साथ रहते हुए भी वीतराग परिणति का घात

नहीं करती, इसलिये उसको भी उपचार से मोक्षमार्ग कहा गया है, वह व्यवहार मोक्षमार्ग है। इसका नय के साथ संबंध नहीं है।

नय का कार्य मात्र जानने का है। अतः यथार्थ को यथार्थ जाने व कहे वह निश्चयनय है और जो यथार्थ में जैसा कहा गया हो वैसा न हो तो भी, उसको किसी अपेक्षा से यथार्थ के रूप में कहा जाय व जाना जाय, सो व्यवहारनय है। जैसे वीतराग परिणति को मोक्षमार्ग जानना व कहना व्यवहारनय है। इसप्रकार निश्चय-व्यवहारनय एवं निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग का अंतर समझकर यथायोग्य ज्ञान-श्रद्धान कर वर्तना आवश्यक है।

## अनेकांत और स्याद्वाद

वस्तु का स्वरूप ही अनेकान्तात्मक है। अनेकांत शब्द ही अनेक और अन्त दो शब्दों से मिल कर बना है। अनेक अर्थात् एक से अधिक, दो से लगाकर अनन्त, और अन्त का अर्थ है गुण-धर्म आदि। हर एक वस्तु अनन्त गुणों का समुदाय रूप एक वस्तु है। अतः वस्तु स्वयं अनेकांतात्मक ही है। उसको समझानेवाली कथन पद्धति को अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद कहा जाता है। अनेकान्तस्वरूप वस्तु को समझानेवाली होने से उसको अनेकांतवाद कहा जाता है। तथा गुण अनंत होने से किसी एक गुण के माध्यम से वस्तु को समझाना पड़ता है। उस समय अन्य गुण वक्ता की दृष्टि में रहते हुए भी उनका कथन नहीं किया जा सकता। इसलिये स्यात् पद लगाकर ही अथवा ज्ञान में रखकर ही समझाना पड़ता है। अतः उस कथन पद्धति को स्याद्वाद कहा जाता है। इस ही कारण अनेकांत और स्याद्वाद में द्योत्य-द्योतक संबंध है।



स्याद्वाद का प्रयोग भी अभेद वस्तु को समझाने के लिए ही है। वस्तु तो अनंत गुणों के समूह रूप अनेकांतात्मक एक है। वस्तुस्वरूप ही ऐसा है कि उसको भेद करके ही समझाया जा सकता है। सब गुण एक साथ बताये नहीं जा सकते। इसलिये ज्ञान में उसी वस्तु के अन्य गुण होने पर भी समझाने के लिये एक को मुख्य करके अन्य को गौण करना अनिवार्य हो जाता है। अतः स्याद्वाद का उपयोग भी अनिवार्य हो जाता है। इसप्रकार अभेद वस्तु में अन्य गुण भी विद्यमान है, यह समझाने के लिये "भी" शब्द का प्रयोग स्याद्वाद का सूचक है। जैसे आत्मा में ज्ञान भी है, चारित्र भी है, सुख भी है, श्रद्धा भी है, आदि-आदि।

स्याद्वाद का दूसरा प्रयोग "ही" के रूप में भी किया जाता है। जहाँ वस्तु में बसे हुए अनन्त गुणों में से अथवा पर्याय की स्वतंत्र एवं निरपेक्ष सत्ता सिद्ध करनी हो, वहाँ पर "ही" शब्द का प्रयोग स्याद्वाद का ही सूचक है। जैसे ज्ञानगुण, श्रद्धागुण नहीं है; श्रद्धागुण, ज्ञानगुण नहीं है ज्ञान ज्ञान ही है; श्रद्धा श्रद्धा ही है; आदि-आदि।

इसीप्रकार जब एक द्रव्य को अन्य द्रव्य से भिन्न सिद्ध करना हो, तो भी "ही" शब्द के द्वारा भिन्नता सिद्ध की जाती है। जैसे जीव जीव ही है, अजीव नहीं; अजीव अजीव ही है, जीव नहीं; आदि-आदि।

तात्पर्य यह है कि "ही" शब्द के द्वारा भी, तथा "भी" शब्द के द्वारा भी, एकमात्र वस्तुस्वरूप को ही सिद्ध करने का, समझाने का उद्देश्य है। जिनवाणी के सब कथनों का तात्पर्य तो एकमात्र वीतरागता है। अतः "ही" के द्वारा अन्य द्रव्यों से अपने-आपको भिन्न करके, पर से संबंध

तोड़कर, वीतरागता प्राप्त कराने का प्रयोजन है। तथा "भी" के प्रयोग द्वारा अपने अंदर बसनेवाले अनंत गुणों के कार्य एक साथ, होते हुए भी, एक-दूसरे के आधीन नहीं होकर, अपना-अपना कार्य निरपेक्ष रूप से करते रहते हैं। ऐसी निःशंकता एवं दृढ़ता उत्पन्न कराकर वीतरागता उत्पन्न कराने का प्रयोजन है।

स्याद्वाद एवं अनेकांत का स्वरूप बताते हुए आचार्य अमृतचन्द्रदेव आत्मख्याति टीका के परिशिष्ट में कहते हैं—

"स्याद्वाद समस्त वस्तुओं के स्वरूप को सिद्ध करनेवाला अर्हन्त सर्वज्ञ का अस्खलित (निर्बाध) शासन है। वह कहता है कि अनेकांत स्वभावी होने से सब वस्तुएँ अनेकान्तात्मक हैं। जो वस्तु सत् है वही असत् है; आदि-आदि....। इसप्रकार एक वस्तु में वस्तुत्व की उत्पादक परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकान्त है।"

इसप्रकार परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले अनेक युगलों (जोड़ों) को स्याद्वाद अपनी सापेक्ष शैली से प्रतिपादन करता है।

स्याद्वाद का सूचक स्यात् पद का ठीक-ठीक अर्थ लगाना चाहिये। इसके सम्बन्ध में बहुत भ्रम प्रचलित है। कोई स्यात् का अर्थ संशय करते हैं, कोई शायद, तो कोई संभावना; आदि-आदि। इसतरह स्याद्वाद को संशयवाद, शायदवाद या संभावनावेद बना देते हैं। लेकिन स्याद्वाद तो संदेह का वाचक न होकर एक निश्चित अपेक्षा का वाचक है।

इसीप्रकार कुछ अज्ञानी ऐसा कहते हैं कि स्याद्वाद शैली में मात्र "भी" का ही प्रयोग है "ही" का नहीं। उन्हें "भी" में समन्वय की सुगंध और "ही" में हठ की दुर्गन्ध

आती है, लेकिन यह उनका अज्ञान है। "ही" और "भी" दोनों का प्रयोग एक ही वस्तु को समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी एवं आवश्यक है। जैसे जीव की पहिचान कराना हो तो कहना होगा - जीव, जीव ही है; अजीव नहीं, धर्म नहीं, अधर्म नहीं, आकाश नहीं, आदि-आदि। इसमें तो "ही" शब्द के प्रयोग द्वारा ही निःशंकता एवं दृढ़ता उत्पन्न होगी। साथ ही जीव की ही पहिचान के लिये यह भी आवश्यक होगा कि जीव में ज्ञान भी है, श्रद्धा भी है, चारित्र भी है, सुख भी है आदि-आदि के द्वारा "भी" का प्रयोग अनिवार्य हो जाता है। तब ही जीव, भले प्रकार पहिचाना जा सकता है। अतः दोनों का ही प्रयोग वस्तु के समझने के लिये अनिवार्य है।

अनेक विपरीत मान्यताओं के समन्वय के लिये "भी" शब्द का प्रयोग करना स्याद्वाद सिद्धान्त के साथ अन्याय है, विपरीत प्रयोग है। गृहीत मिथ्यात्व के पोषण द्वारा अपनी ही तलवार से अपना गला काटने के समान है। "ही" को एकान्तवाद का सूचक कहना नितान्त अज्ञान है "ही" का प्रयोग तो सम्यक् एकान्त का सूचक है।

इसप्रकार स्याद्वाद एवं अनेकान्त के सिद्धान्त का प्रयोजन समझकर यथास्थान उपयोग कर वस्तु स्वरूप का सम्यक् निर्णय करना चाहिये। यही आत्मार्थी का कर्तव्य है।

## उपसंहार

सुखी होने का उपाय भाग-२ में आत्मा की अन्तर्दशा एवं स्वतत्त्व निर्णय के संबंध में हम ने विस्तृत चर्चा की, उसका संक्षेप में पुनरावलोकन करते हैं।

सुखी होने का उपाय भाग-१ में हमने विश्व की व्यवस्था एवं वस्तु व्यवस्था समझकर यह निर्णय किया है कि इस लोक में छह जाति के अनंत द्रव्य हैं। उन सबका स्वतंत्र अस्तित्व है। उनमें से मैं भी एक द्रव्य हूँ, उन सबका अस्तित्व तो है लेकिन मेरे से भिन्न होने से वे मेरे से पर हैं। वे अपने-अपने क्षेत्र में रहते हुए परिणमते हैं। मैं भी अपने-आप में रहता हुआ अपने में ही परिणमन करता रहता हूँ। मेरे कार्य में वे हस्तक्षेप नहीं कर सकते, उसीप्रकार मैं भी उनके कार्य में हस्तक्षेप नहीं कर सकता। ऐसी मान्यता खड़ी होने पर अनेक द्रव्यों के साथ परपना आ जाने से कर्तृत्वबुद्धि का अभाव हो जाता है। इसप्रकार पर के प्रति प्रमाणरूप भेदभाव हो जाता है। सारे जगत् के कर्तृत्व के भार से हल्का हो जाता है।

इसी भाग के द्वारा हमने यह भी समझा कि हर एक वस्तु का स्वभाव, अपने स्वभावरूप परिणमने का ही है। कोई भी द्रव्य अपने स्वभाव को छोड़कर अन्य भावरूप परिणमन कर सकता ही नहीं है। मैं भी एक द्रव्य हूँ, मेरा भी स्वभाव अपने स्वभावरूप परिणमने का ही है। मेरा स्वभाव तो मात्र जानना ही है। अतः मेरा आत्मा तो जाननेरूप क्रिया का कर्ता है अर्थात् ज्ञायक है। क्रोधादि विभाव तो विभावभाव हैं, इसही कारण वे स्थाई रहते नहीं। ज्ञान तो स्वाभाविक भाव है, इसलिये कहीं किसी भी दशा में हो, नाश हो ही नहीं सकता।

इसप्रकार प्रमाणरूप भेदज्ञान की प्रक्रिया समझी। उपरोक्त प्रकार से छह द्रव्यों से अपने-आपको भिन्न ज्ञायक स्वभावी समझकर सभी में परपना मानकर, जाग्रत हो जाता है।

उसके पश्चात् अपने आत्मा की अन्तर्दशा समझने की चेष्टा करता है। अपने अंतर में भी गुणभेदों की अनेकता

तथा विकारी निर्विकारी पर्यायों की अनेकता आदि, अनेक प्रकार के पलटते हुए भावों के ही दर्शन होते हैं। उन पलटते हुए भावों की भीड़-भाड़ में, स्थाई त्रिकालीभाव तो कहीं दिखाई ही नहीं देता। अतः उन सबमें से स्व आत्मतत्त्व को खोजकर निकालने की पद्धति समझने का इस दूसरे भाग का मुख्य उद्देश्य है। इसमें आये हुए विषयों की जानकारी विषयसूची में है ही। अतः उनको इसमें दोहराने की आवश्यकता नहीं है। आत्मार्थी को सूची के अनुसार सभी विषयों को मनोयोगपूर्वक समझकर, अपने त्रिकाली ज्ञायकतत्त्व में अहंपना स्थापन कर लेना चाहिये तथा अन्य सभी में परपना स्थापन कर उनको उपेक्षायोग्य मानकर उनके प्रति उत्साहहीन हो जाना चाहिए। ऐसे यथार्थ निर्णय के द्वारा दृढ़तम श्रद्धा जाग्रत होनी चाहिए कि—

(१) मेरा अस्तित्व है, वह तो एकमात्र त्रिकाली ज्ञायक ध्रुव तत्त्व ही "मैं" हूँ। अन्य जो कुछ भी ज्ञान में जानने में आते हैं वे सब "मैं" नहीं, "मेरे" नहीं हैं। मात्र मेरे लिये परज्ञेय तरीके ज्ञान में आ जाते हैं। अतः वे अत्यन्त उपेक्षणीय हैं। जो जानने के लिये भी उपेक्षणीय हों, उनमें कुछ करने-धरने का तो प्रश्न ही नहीं रहता इसलिए मैं तो सबका अकर्ता हूँ।

(२) मेरा स्वभाव जानना मात्र ही नहीं, बल्कि मात्र स्व को जानने का ही स्वभाव है। स्वसन्मुख होकर ही जानने का स्वभाव है। क्योंकि आत्मद्रव्य स्वक्षेत्र में रहकर ही जो जानन क्रिया करेगा। पर का तो स्व में अभाव है। अतः पर को जानेगा कैसे? लेकिन ज्ञान की स्वपरप्रकाशक शक्ति होने से तथा ज्ञेय द्रव्यों में प्रमेयत्वगुण होने से, उन ज्ञेयों के आकार, आत्मा के ज्ञान में स्वतः झलकने लगते हैं। अर्थात् आत्मा का ज्ञान ही स्वयं ज्ञेयाकाररूप हो जाता है।

उन ज्ञान के आकारों को ही आत्मा जानता है। ज्ञेयों का तो वहाँ अंश भी नहीं है। अतः आत्मा की जाननक्रिया स्वसन्मुखतापूर्वक पर संबंधी स्वज्ञानाकारों को ही जानती है। इस अपेक्षा से ही आत्मा के ज्ञान को स्वपरप्रकाशी कहा जाता है। उन ज्ञेयाकार रूप स्वज्ञानाकारों को जानते समय ज्ञानी तो एक मात्र त्रिकाली ज्ञायकभाव में स्वपना होने से इन ज्ञेयाकारों के प्रति परपना अत्यन्त उपेक्षाबुद्धि से जानता है। फलतः वीतरागता को प्राप्त करता है। अज्ञानी उन ही ज्ञेयाकारों को जानते समय, आत्मतत्त्व के अज्ञान के कारण, उन ज्ञेयाकारों एवं उनके विषयों के प्रति मेरापना मानने से रागी-द्वेषी होकर निरन्तर दुःखी एवं रागी बना रहकर संसार बढ़ाता रहता है।

(३) ज्ञानी को अपने त्रिकालीभाव में अहंपना बना रहने पर भी उसके ज्ञान में परज्ञेय तरीके अपनी पर्याय की अनेक प्रकार की विविधताएँ ज्ञान के जानने में आती हैं। उन सबको वह पर्याय स्वभाव जानकर अर्थात् पर्याय भी एक समय का सत् है, स्वतंत्र एवं निरपेक्ष है, उसको तो इस समय इस ही प्रकार परिणमना था, वैसा ही परिणमा है। उस को इस ही प्रकार परिणमने की योग्यता थी।

दूसरी ओर मेरे ज्ञानगुण की इस समय की पर्याय की योग्यता ही ऐसी है कि स्व को जानते हुए परज्ञेय में यह पर्याय ही ज्ञान में ज्ञेय बन सकती थी, इसलिये यह पर्याय ज्ञेय बनी है। ऐसी श्रद्धा के द्वारा अपनी पर्याय का कर्तव्य भी समाप्त होकर अत्यन्त अकर्ता होता हुआ निर्भार वर्तता है।

ऐसे जगत् के कर्तव्य से निर्भर ज्ञानी का उपयोग एकमात्र स्वज्ञायकतत्त्व में ही विश्राम पाने के लिये उत्सुक

रहता है, उसके उपयोग को अन्य कोई शरणभूत ही नहीं रह जाता है। अतः जावे तो जावे कहाँ? ऐसी दशा प्राप्त ज्ञानी का उपयोग सर्व गुणों के साथ आत्मा से सम्मिलन प्राप्त कर आत्मानंद का उपभोग कर कृतकृत्य हो जाता है।

मेरे में ऐसा दृढ़तम विश्वास जाग्रत हो कि उपरोक्त मार्ग ही यथार्थ है, इसी मार्ग द्वारा मुझे भी आत्मोपलब्धि हो सकेगी। उस मार्ग को ही इस पुस्तक के माध्यम से अनेक आगम, न्याय, युक्ति एवं अपने में आते हुए अनुभव के माध्यम से यथार्थ अनुमान द्वारा पक्का निर्णय कराने का प्रयास किया गया है।

आत्मार्थी ऐसा विचार करता है कि अनंत काल से संसारपरिभ्रमण का कारण एवं अपनी आत्मा में उठनेवाली राग-द्वेष संबंधी अशांति का कारण, एकमात्र स्वआत्मतत्त्व को भूलना है। तथा परज्ञेय जो अत्यन्त उपेक्षणीय है, उनको अपने मान लेना है, फलस्वरूप उनके रक्षण आदि का प्रयास करते-करते तथा असफलता प्राप्त करते हुए अत्यन्त दुःखी-दुःखी ही बना रहता हूँ। लेकिन मुझे अब एक क्षण भी निरर्थक नहीं खोना है। यहाँ मुझे स्व के स्वरूप एवं पर के स्वरूप समझने की अनुकूलता प्राप्त हुई है, तो मुझे पूर्ण मनोयोगपूर्वक इस मार्ग को समझना ही है। ऐसी जिज्ञासा प्राप्त आत्मार्थी इस पुस्तक के विषय को मनोयोगपूर्वक हृदयगम कर यथार्थ निर्णय को प्राप्त होता है। और ऐसा मान लेना है की मार्ग तो यही है और मुझे भी ऐसा ही भासित होता है। इस ही मार्ग पर चलने से

मुझे आत्मोपलब्धि हो सकेगी। ऐसे दृढ़तम निर्णय को प्राप्त आत्मार्थी भाग-३ में बताई जानेवाली प्रक्रिया के अनुसार आत्मोपलब्धि प्राप्त कर चिरकाल सुखी हो सकता है।

तभी आत्मार्थी बन्धु यथार्थ मार्ग समझकर निर्णय एवं विश्वास में लाकर पुरुषार्थ कर आत्मलाभ प्राप्त करें—इसी भावना के साथ विराम लेता हूँ।







## हमारे यहाँ प्राप्त महत्वपूर्ण प्रकाशन

सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका ( जीवकाण्ड )	४०-००
बृहज्जिनवाणी संग्रह	२५-००
समयसार/मोक्षशास्त्र	२०-००
प्रवचनसार/अष्टपादुह	१६-००
नियमसार/समयसार नाटक	१५-००
सिद्धचक्र विधान	१३-००
प्रवचन रत्नाकर भाग १/आध्यात्मिक पाठ संग्रह	१२-००
ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव/मोक्षमार्ग प्रकाशक	१२-००
पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व	१०-००
परमभाव प्रकाशक नयचक्र	१०-००
पंचास्तिकाय/जिनेन्द्र अर्चना ( पूजन संग्रह )	१०-००
आ ० कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार	१०-००
प्रवचन रत्नाकर भाग २,३,४ एवं ५	१०-००
ज्ञानगोष्ठी	७-००
तीर्थकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ ( हि., गु., म., क., त., अं. )	७-००
सत्य की खोज [ कथानक ] हि., गु., म., क., त., अं. )	७-००
बारह भावना : एक अनुशीलन/पुरुषार्थसिद्धयुपाय	६-००
जिनवरस्यनयचक्रम्/धर्म के दशलक्षण ( हि., गु., म., अं. )	६-००
क्रमबद्धपर्याय ( हि., गु., म., क., त., अं. ) अध्यात्मरत्नत्रय	५-००
बनारसीविलास/अर्द्धकथानक/अध्यात्म सदेश/कूहढाला	५-००
आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंच परमागम	५-००
बनारसीदास विशेषांक/वीतराग विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	५-००
श्रावक धर्म प्रकाश/भक्तामर प्रवचन/बनारसीदास ( कामिकम् )	५-००
गागर में सागर/चौबीस तीर्थकर पूजन/आप कुछ भी कहो	४-००
बालबोध पाठमाला भाग १,२,३ का सेट	३-७५
वीतराग विज्ञान पाठमाला भाग १,२,३ का सेट	४-५०
तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १,२ का सेट	४-००
बनारसीदास : व्यक्तित्व व कर्तृत्व/चौसठ ऋद्धिविधान	३-००
चिद्विलास/परमार्थवर्धनिका	२-५०
गमोकार महामंत्र/विदेशों में जैनधर्म : उभरते पदचिह्न	२-००
जिनपूजन रहस्य	१-५०
मैं कौन हूँ/अहिंसा महावीर की दृष्टि में/भरतबाहुबली नाटक	१-२५